ान

विशेषताओंसे
ाणि विद्यानन्द
ायाचार्य पण्डित
ात और सम्पा-
रिशिष्टोंसे अल-
ाण,

मूल्य आठ रुपया यह संस्करण शीघ्र प्रकाशित होरहा है।

२. श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र— उक्त विद्यानन्दाचार्य-विरचित महत्वका स्तोत्र, हिन्दी-अनुवाद तथा प्रस्तावनादि सहित। सम्पादक न्यायाचार्य पण्डित दरबारीलाल कोठिया। मूल्य एक रुपया।

३. शासन चतुस्त्रिंशिका—विक्रमकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान मुनि मदनकीर्ति विरचित तीर्थपरिचयात्मक ऐतिहासिक अपूर्व रचना, हिन्दी अनुवाद-सहित। सम्पादक-न्यायाचार्य पण्डित दरबारी-लाल कोठिया। मूल्य बारह आना।

रामा प्रिंटिंग वर्क्स, चावड़ी बाज़ार, देहली।

वीरसेवा मन्दिर सस्ती ग्रन्थमाला

प्रथम पुष्प

कविवर दौलतरामजी-कृत

छहढाला
आदि संग्रह

अनुवादक

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद

सम्पादक

पं० परमानन्द जैन शास्त्री

प्रकाशक—

वीरसेवा मन्दिर

प्रस्तावना

छहढाला

यह वह कृति है जिसको पढ़कर पाठक निजानन्दरसमें मग्न हो जाता है उस का हृदय आनन्द-विभोर हो उठता है और वह कुछ समयके लिये अपनेको सर्वथा भूल जाता है, तथा अपने चिदानन्द स्वरूपका स्मरण आते ही उसे जानने और प्राप्त करनेके प्रयत्न में लगजाता है कविवर दौलतरामजीने इस कृतिमें—छहढालों, चालों अथवा छन्दों—में जीवकी चाह, चतुर्गतिके दुख, उनका कारण, सुख और सुखप्राप्तिके कारणोंके साथ दुःखोंसे छुटकारा पानेके उपाय— स्वरूप श्रावक और मुनिधर्म का बड़ा ही सुन्दर एवं मार्मिक विवेचन किया है। जैन सिद्धान्तके तत्त्वोंका संक्षेपमें सार देते हुए अपनेको सम्बोधन करके लिखा है :—

'दौल' समझ सुन चेत सयाने, काल वृथा मत खोवै,
यह नरभव फिर मिलन कठिन है जो सम्यक नहिं होवै ॥
मुख्योपचार दुभेद यों बड़ भागि रत्नत्रय धरैं ।
अरु धरैंगे ते शिव लहैं तिन सुयश जग मल हरैं ॥
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि यह सिख आदरो।
जबलौं न रोग जरा गहै तबलौं झटिति निज हित करो ॥
यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये।
चिर भजे विषय-कषाय अब तो त्याग निजपद वेइये ॥
कहा रच्यौं पर पदमें न तेरो पद यहै क्यों दुख सहै।
अब 'दौल' होउ सुखी स्व-पदरचि, दाव मति चूकौ यहै ॥

अर्थात् हे विवेकी आत्मन्! तू चेत, और अपने अमूल्य समयको व्यर्थ मत खो, यदि इस जीवनमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई तो इस मानव—

पर्यायका मिलना कठिन है। जो पुण्यात्मा जीव - निश्चय—व्यवहाररूप रत्नत्रय का धारण करते हैं और करेंगे वे मोक्ष पाते हैं और पावेंगे। उनका यशरूपी जल संसारमल को दूर करेगा ऐसा जानकर आलस को छोड़ कर और साहस कर यह सीख मानो कि। जब तक जरारूपी रोग न आवे तब तक शीघ्र ही निज हित करो। यह जीव रागरूपी आग में सदा जल रहा है अतएव समतारूपी अमृतका सेवन करना चाहिये। और चिरकाल से सेवन किये हुए विषय—कषायोंको छोड़ कर अपने चिदानन्द टकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावका अनुभव कर। परपद में क्यों राग कर रहा है, यह तेरा पद नहीं है तू किस लिये दुःख सहता है। हे दौलत राम अब तू सुखी हो और स्वपद मे रच—स्वस्वरूप-में मग्न हो—यह दाव अथवा अवसर मत चूक। इस तरह यह छहढाला ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी और हिन्दी साहित्यकी अमूल्य निधि है। छहढाले की सर्व प्रथम रचना कविवर द्यानतरायजीने संवत १७५८ के कार्तिक महीनेकी त्रयोदशीको की थी। उसके सौ वर्ष बाद कविवर 'बुधजन' (विधीचन्द) ने सं० १८५६ में वैशाखी सुदी तीज को दूसरा छहढाला बनाया था। यह छहढाला प्रस्तुत ग्रथके बाद इसी ग्रंथमें प्रकाशित किया गया है। इन्हीं 'कवि बुधजन' के छहढालेको देख कर पं० दौलतरामजीने इस छहढालेकी सुव्यवस्थित रचना स० १८६१ में वैशाख सुदी ३ के दिन की है।

पं० दौलतरामजी

अब पाठकोंकी जिज्ञासा कविवर दौलतरामजीके विषय में होना स्वाभाविक है, यह दौलतराम पद्मपुराणादिक पुराण—ग्रंथोंके टीकाकार दौलतराम काशलीवाल[1] से भिन्न हैं और उनसे बादके विद्वान हैं। छहढालाके कर्त्ता प दौलतरामजी किस वंशमें उत्पन्न हुए थे और कहाके निवासी थे और उनका जीवनपरिचय क्या है? ये बाते जानने की हैं। यद्यपि कविवरने स्वयं अपना कोई परिचय नहीं दिया, परन्तु जो कुछ ज्ञात हो सका उसे नीचे दिया जाता है:—

१. पं० दौलतरामजी काशलीवालके परिचयके लिये देखे 'अनेकान्त' वर्ष १० कि० १ में प्रकाशित मेरा लेख।

पं० दौलतरामजीका जन्म हाथरसमें हुआ था। आपके पिताका नाम 'टोडरमल्ल' था, आपकी जाति 'पल्लीवाल' और गोत्र था 'गंगीरीवाल' परन्तु 'फतहपुरिया' नाम से उल्लेखित किये जाते थे। आपका विवाह सेठ चिन्तामणिजी बजाज अलीगढ़की सुपुत्रीके साथ हुआ था, उससे आपके दो सुपुत्र भी हुए थे। थोड़े दिन बजाजी का कार्य हाथरसमें करने के बाद कर्मोदयवश आप अलीगढ़ रहने लगे थे और वहां ही छींटे छापनेका कार्य किया करते थे। छपाईका काम करते हुए भी आप अपने विद्याभ्यासका अनुराग कम न कर सके और चौकी पर जैन सिद्धान्तके ग्रन्थ रखकर छपाई—का कार्य करते हुये भी ५० या ६० पद्य रोजाना कण्ठस्थकर लेना आपका दैनिक कर्त्तव्य था। आप संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे और आपमे विवेक था और जैनसिद्धान्तके परिज्ञानकी थी बलवती भावना। उस समय आपके कुछ पूर्व-कृत कर्मका अशुभोदय था जिसे आपने विवेक और धैर्यके साथ सहा। कुछ दिनोंके पश्चात् पण्डितजी अलीगढ़से देहली आगये, और वहां साधर्मी सज्जनोंकी गोष्ठी को पाकर अपना अधिकांश समय तत्त्वचिन्तन, सामायिक आदि प्रशस्त कार्यों में बिताने लगे। उनकी मृत्यु कब और कहां हुई यह कुछ मालूम नहीं हो सका।

इस समय आपकी दो कृतियां उपलब्ध हैं—एक छहढाला जिसका ऊपर परिचय दिया गया है और दूसरा ग्रंथ आध्यात्मिक पदसंग्रह। पदसंग्रह के सभी पद भावपूर्ण और अनुप्रास आदिकी छटा को लिये हुए हैं। आध्यात्मिक प्रेमियोंमें उनका बहुत प्रचार है। आपकी कवितामे पद-लालित्य एवं सरलता है यद्यपि पदोंमें संस्कृत शब्दोंकी प्रचुरता पाई जाती है फिर भी वे कठिन नहीं है; उन में प्रासाद और माधुर्य की भी कमी नहीं है जिससे वे अरुचिकर प्रतीत होते हों।

परमानन्द जैन

स्वर्गीय कविवर पं० दौलतरामजीकृत

छहढाला

पहली ढाल

॥ मंगलाचरण ॥

(सोरठा)

तीन-भुवनमें सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग-सम्हारिकैं।

भुवन =(स०) ९ विज्ञानता =(स०) केवलज्ञान रूप विद्या
शिव =(स०) आनन्द। त्रियोग =(स०) मन, वचन, काय।

मैं (पंडित दौलतराम) अपने मन, वचन, कायको सँभाल कर तीन-लोकमे उत्तम आनन्द-रूप और सुख करनेवाली वीतराग (१८ दोष-रहित) स्वरूप केवलज्ञान-रूपी विद्याका नमस्कार करता हूँ

ग्रन्थरचनाका उद्देश्य और जीवकी चाह

चौपई

जे त्रिभुवनमें जीव अनन्त, सुख चाहै दुखतैं भयवन्त।
तातैं दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणाधार ॥ १ ॥

भयवन्त =(वि०) डरते हुए। करुणा =(स०) दया, कृपा

तीन लोकमे जितने अनन्त (जिनका अन्त नहीं) जीव हैं, वे सब सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। इसलिए श्रीगुरु दुःखको दूर

करनेवाली और सुखको पैदा करनेवाली शिक्षाको दया करके कहते हैं।

गुरुशिक्षा सुननेका आदेश और संसार भ्रमणका कारण:—

ताहि सुनो भवि मन थिर आन, जो चाहौ अपनो कल्यान।
मोहमहामद पियौ अनादि, भूल आपको भरमत वादि ॥ २ ॥

अनादि =(वि०) ऐसा काल जिसका प्रारम्भ नहीं है।
महामद=(स०) तेज शराब। वादि=(अ०) व्यर्थ।

हे भव्यजीव! जो तुम अपना भला चाहते हो तो उस शिक्षाको मन स्थिर करके सुनो। यह जीव अनादि कालसे मोह-(संसारमें--तन, धन, पुत्र आदि से दृढ़ नेह)-रूपी तेज मदिराको पीकर और अपने आत्माके स्वरूपको भूलकर व्यर्थ भ्रमण करता है।

ग्रन्थकी प्रमाणिकता और निगोदके दुःख:—

तास भ्रमणकी है बहु कथा, पै कछु कहूँ कही मुनि यथा।
काल अनन्त निगोद मंझार, बीत्यौ एकेन्द्री तनधार ॥ ३ ॥

भ्रमण=(सं०) संसारमें फिरना। मँझार=(सं० अ०) भीतर।
यथा=(क्रि० वि०) जैसा। एकेन्द्री=(स०) जिसके एक इन्द्रिय अर्थात् केवल शरीर-मात्र हो, जिससे पदार्थको छूकर ठण्डा, गरम, हलका, नरम आदिका ज्ञान हो। इस इन्द्रियका नाम स्पर्शन-इन्द्रिय है, जो पहली इन्द्रिय है। यह सब जीवों के होती है

उसकी (जीव के संसार में फिरनेकी) बहुत बड़ी कहानी है; परन्तु मैं जैसा कि मुनियों ने कहा है कुछ कहता हूँ। एकेन्द्रिय शरीरको धारण किये हुए इस जीवने अनन्त काल तो निगोदके भीतर बिताया।

निगोदके दुःख और वहाँसे निकलनेका क्रमः—

एक स्वासमें अठदस बार, जन्म्यौ, मरयौ भरयौ दुखभार।
निकसि भूमि जल पावक भयौ, पवनप्रत्येक वनस्पतिथयौ॥४॥

भरया=(क्रि०) सहता हुआ। भार=(सं०) बोझा।
भूमि=(सं०) जमीन। पवन=(स०) वायु, हवा।
पावक=(स०) अग्नि, आग। प्रत्येक-वनस्पति=(सं०) ऐसी वृक्ष-जाति जिसमे एक शरीर के सहारे एक जीव रहे। साधारण-वनस्पति वह है जिसमें एकके आश्रय अनेक जीव रहें।

उस निगोदके भीतर यह जीव एक श्वास-मात्र (मुहूर्त जो कि दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनिटका होता है, जिसके ३७७३ श्वास होते हैं) में अठारह बार जन्म मरण करता, और दुःखके बोझको सहता हुआ वहां से (बड़ी कठिनतासे) निकल कर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति—ऐसे पाँच तरह के एकेन्द्रिय—स्थावर जीव हुआ।

तिर्यञ्चगतिमें त्रसपर्यायकी दुर्लभता और उसके दुःखः—

दुर्लभ लहि ज्यौं चिंतामणी, त्यौं पर्याय लही त्रसतणी।
लट-पिपील-अलि आदि शरीर, धर धर मरयौ सही वहु पीर॥ ५॥

दुर्लभ=(क्रि० वि०) कठिनता से। लट=(सं०) यह दो इन्द्रिय जीव है। इसके एकरसना (स्वाद लेने-वाली) [illegible] होती।
लहि=(क्रि०) मिलता है।
पर्याय=(सं०) अवस्था, शरीर।
त्रस=(स०) दो इन्द्रियसे लेकर पाच-इन्द्रिय तकके जीवको 'त्रस कहते' हैं। पिपील=(स०) चींटी-कीड़ी। इसके तीन

इन्द्रियाँ होती हैं। एक घ्राण (सूँघने की) इन्द्रिय अधिक होती है। होती हैं। एक चक्षु (देखने की) इन्द्रिय अधिक होती है।
अलि = (सं०) भौरा। इसके चार इन्द्रियाँ पीर = (सं०) दुःख

जैसे चिंतामणि-रत्न बड़ी कठिनतासे मिलता है वैसे ही त्रस जीवों का शरीर पाना मुश्किल है। इस जीवने लट, कीड़ी, भौंरा वग़ैरह शरीरों को बार-बार धारण कर मरण किया और बहुत दुःख सहा है।

तिर्यञ्चगतिमें असैनी और सैनीजीवके दुःख—

कबहूँ पंचेंद्रिय पशु भयौ, मन-बिन-निपट-अज्ञानी थयौ।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर॥ ६॥

पंचेंद्रिय-पशु = (सं०) ऐसे जानवर, जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र-(कान), ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। निपट = (क्रि० वि०) बिलकुल।
सैनी = (वि०) मन-सहित। हति = (क्रि० वि०) मारकर।
क्रूर = (वि०) दुष्ट। भूर = (वि०) बहुत।

कभी यह जीव मन-बिना बिलकुल अज्ञानी पंचेन्द्रिय पशु हुआ। कभी यह मन-सहित दुष्ट सिंह वग़ैरह पंचेन्द्रिय पशु हुआ। तब इसने बहुतसे निर्बल पशुओंको मार मारकर खाया।

तिर्यञ्चगतिमें और पशुके अन्य दुःखः—

कबहूँ आप भयौ बलहीन, सबलनि करि खायौ अतिदीन।
छेदन भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम-आतप-त्रास॥ ७॥

वहन = (क्रि०) ढोना। आतप = (सं०) गर्मी।
हिम = (सं०) ठण्ड। त्रास = (सं०) दुःख।

कभी यह जीव ज प स्वय निबल पशु हुआ, तब महादुखी होकर अपनेसे जो बलवान पशु थे उनसे खाया गया। छेदा जाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बाझा, ठढ, गरमीके दु ख तथा—

तिर्यञ्चगतिमे दुखोंकी अधिकता और नरकगति प्राप्तिका कारण—

वध बधन आदिक दुख घनैं, कोटि जीभतैं जात न भनैं।
अतिसंक्लेशभावतैं मरचौ घोरशुभ्रसागरमे परयो ॥ ८ ॥

भनै=(क्रि०) कहना। घोर—(वि०) भयानक।
सक्लेशभाव=(सं०) खोटे परिणाम शुभ्रसागर=(स०) नकरूपी समुद्र।

माराजाना, बॉधा जाना वगैरह बहुत दु ख, जो करोडों जबानोंसे भी नहीं कहे जा सकते, इस जीवने पशु-पर्यायमे सहे है। जब यह जीव बहुत ही खोटे भावोंसे मरा तो भयानक नरक-रूपी समुद्रमें गिरा।

नरककी भूमि और नदीजन्य दु ख—

तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बीछू सहस डसैं नहि तिसो।
तहाँ राध-श्रोणित वाहिनी, कृमिकुलकलितदेहदाहिनी ॥ ९ ॥

राधश्रोणित=(वि०)पीव और रक्तसे भरी हुई। कृमिकुल=(स०) कीड़ोंका ढेर।
वाहिनी=(स०) नदी इसो= इत कलित=(वि०) भरी हुई।
तिसो =उतना

इस नरककी जमीनको छूनेसे इतना दु ख होता है, जितना कि हजार बिच्छुओं के काटनेसे भी नहीं होता। उस नरकमे पीव लोहू तथा कीड़ोंके समूहसे भरी हुई तथा देहको जलाने वाली नदी बहती है।

नरकमें सेमर वृक्ष, सर्दी और गर्मीके दुःखः—

सेमरतरु जुत-दल असिपत्र, असि ज्यों देह विदारैं तत्र।
मेरुसमान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ॥ १० ॥

सेमरतरु=(सं०) एक तरहका कांटेदार झाड़।
दल=(सं०) पत्ता। विदारैं= (क्रि०) चीरते हैं।
असिपत्र=(सं०) तलवार की धार। तत्र=(क्रि० वि०) वहाँ।
मेरु समान= मेरु पर्वतके बराबर

उन नरकोंमें तलवारकी धार-समान पत्तेवाले सेमरके वृक्ष हैं; जो तलवारके समान शरीरको चीरते हैं। वहाँ ठंड और गरमी इतनी अधिक है कि मेरु-पर्वत (जो एक लाख योजन ऊँचा है) के बराबर लोहेका गोला भी गल जाता है।

नरक मे अन्य नारकियों, असुरकुमारों द्वारा उदीरित दुःख और प्यासके दुःख—

तिल तिल करैं देहके खंड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचंड।
सिंधु नीरतें प्यास न जाय, तो पण एक न बूंद लहाय ॥११॥

असुर=(सं०) असुरकुमार जातिके देव जो तीसरे नरक तक जाकर नारकियोंको आपसमे लड़ाते हैं और आप उनका दुःख देख खुश होते हैं।

नरकमें नारकी एक दूसरेकी देहके टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं; (उनकी देह पारेके समान फिर मिल जाती है), तथा प्रबल असुरकुमारदेव नारकियोंको आपसमें लड़ाते हैं। नरकमें प्यास इतनी अधिक है कि समुद्र-भर पानी पीजायं तो भी प्यास न बुझे, परन्तु वहाँ एक बूंद-भी जल नहीं मिलता।

नरकमें भूख, आयु और मनुष्यगतिकी प्राप्ति :—

तीन लोकको नाज जु खाय, मिटै न भूख, कणा न लहाय ।
ये दुख बहु सागरलौं सहै, करमजोगतैं नरगति लहै ॥ १२ ॥

सागर (सं०) वर्षोंका प्रमाण, अपनी समझकी अपेक्षा जिसके वर्ष अगणित हैं।

नरकमें भूख इतनी अधिक मालूम होती है कि यदि तीन लोकका सब अनाज खा लें तब भी भूख न मिटे, परन्तु एक दाना भी वहाँ नहीं मिलता। ऐसे ऐसे दुःख यह जीव बहुत सागरों तक सहा करता है। कोई शुभकर्मका निमित्त मिलने पर फिर मनुष्य-गति प्राप्त करता है।

मनुष्यगतिमें गर्भनिवास और प्रसव जन्य दुःखः—

जननी उदर वस्यौ नव मास, अंगसकुचतैं पाई त्रास ।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनको कहत न आवै ओर ॥१३॥

जननी= (सं०) माता। उदर=(सं०) पेट। ओर=(सं०) अन्त।

मनुष्य-गतिमें यह जीव माताके पेटमें नव महीने रहा। वहां शरीर सुकड़ा हुआ रहनेसे इसने जो दुःख उठाया, और पेटसे निकलते हुए जो भयानक दुःख भोगे, उनका कहनेसे अन्त नहीं आ सकता।

बाल्यावस्था, जवानी और बुढ़ापेके दुःखः—

बालपनेमें ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणी रत रह्यौ ।
अर्द्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो ॥ १४ ॥

तरुण= (सं०) जवान । तरुणी= (सं०) जवान स्त्री ।
रत रह्यौ=(क्रि०) मन लगाया । अर्द्धमृतक= (सं०) अधमरा ।

लड़कपनमें तो इसने ज्ञान प्राप्त नहीं किया, जवानीमें स्त्रीमें मन लगाया और तीसरी अवस्था बूढ़ापन है वह अधमरे आदमीके समान बेकाम होती है। ऐसी दशामें यह जीव अपने रूपको कैसे पहचाने ? (मनुष्यगतिका कोई समय ही बाक़ी न रहा।)

देवगतिमें भवनत्रिकके दुःख—

कभी अकामनिर्जरा करै, भवनत्रिकमें सुरतन धरै ।
विषयचाह-दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुख सह्यौ ॥ १५ ॥

अकामनिर्जरा=(सं ०) विना इच्छाके समतासे कर्मोंका फल भोगना, फिर कर्मोंका झड़जाना।
भवनत्रिक=(स०) तीन जातिके देव-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी ।
सुर=(सं०) देव । दावानल= (सं०) अग्नि (बड़वाग्नि)।

कभी इस जीवने अकामनिर्जरा की, तो मरकर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी-इन तीन तरहके देवोंमें किसी देवका शरीर धारण किया। परन्तु वहाँ भी हर समय पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंकी चाह-रूपी आगमें जलता रहा, और जब मरा तब रो रो कर दुःख सहन किया।

देवगति में वैमानिक देवोंके दुःखः—

जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुख पाय ॥
तहँ तैं चय थावर-तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै ॥ १६ ॥

विमानवासी=(सं०) चौथी जातिके स्वर्गवासी देव।

सम्यग्दर्शन=(सं०) आत्माका और परका ठीक ठीक निश्चय; देव, गुरु. धर्मकी ठीक श्रद्धा।
चय=(क्रि०) आकर। थावर-तन=(सं०) एकेन्द्रियका शरीर।
परिवर्तन=(सं०) संसारमें घूमना; या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव।

यदि यह जीव स्वर्गमें भी पैदा हुआ तो वहाँ भी सम्यग्दर्शनबिना सदा क्लेश उठाया करता है। ऐसी दशामें देव-गतिसे आकर स्थावरके दुःख रूप शरीरको धरता है। इस तरह यह जीव संसारमें चक्कर लगाया करता है।

पहली ढालका भावार्थ

इस संसारमें चार गति हैं—पशु, नरक, मनुष्य और देव। इन चारों गतियोंमें यह जीव अनन्त बार घूम आया तथा अपने भावोंके अनुसार कर्म बाँध कर घूमा करता है। हरएक गतिमें इसे बहुत दुःख सहने पड़ते हैं। पशु और मनुष्यगतिके दुःख तो हमें सामने ही दीखते हैं। इन चारोंगतिसे छूटनेका उपाय जो सम्यग्दर्शन है वह इसको नहीं मिला। सम्यग्दर्शन होनेसे ही जीवको सुख होता है।

दूसरी ढाल

संसार परिभ्रमण के कारणः—

पद्धड़ी छंद

ऐसे मिथ्या-दृगज्ञानचर्ण,–वश भ्रमत भरत दुख जन्म मर्ण ॥
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन तिन संक्षेप कहूँ बखान ॥१॥

मिथ्या-दृगज्ञानचर्ण=(सं०) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, जो सुखके कारण हैं, इनसे उलटे)-ये तीनों दुःखके कारण हैं। खाली श्रद्धासे कोई काम नही होता। श्रद्धाके साथमें ज्ञान और चारित्र होना चाहिये।

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रके कारणसे यह जीव ऊपर कहे अनुसार घूमता है और जन्म-मरणके दुःख सहता है। इसलिए इन तीनोंको भले प्रकार जान कर छोड़ना चाहिये। मैं आगे इनका खुलासा कहता हूं।

अग्रहीतमिथ्यादर्शन और जीवतत्वका स्वरूपः—

जीवादिप्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमाहिं विपर्ययत्व।
चेतनको है उपयोग रूप, विनमूरति चिनमूरति अनूप ॥२॥

जीवादि=(सं०) जीव, अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष।
प्रयोजनभूत=(वि०) (संसारसे छुड़ानेमें) मतलबके।
विपर्ययत्व=(सं०) उलटा चेतन=(सं०) आत्मा, जीव।
उपयोग=(सं०) जानना, देखना।
विन मूरति=(वि०) जिसकी जड़-रूप मूर्ति नहीं है।
चिनमूरति=(वि०) चैतन्य-रूप जिसकी मूर्ति है।
अनूप=(वि०) जिसकी उपमा नहीं मिलती।

मोक्षमार्गमें जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान अपने मतलबका है, उनका स्वरूप औरका और-उलटा श्रद्धान कर लेना सो मिथ्यादर्शन है। तथा आत्माका स्वरूप जानना देखना है। यह आत्मा कोई जड़ मूर्ति नहीं है, किन्तु चैतन्य मूर्ति है। इसकी उपमा (मिसाल) नहीं दी जा सकती।

जीवतत्त्वका विपरीत-श्रद्धानः—

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताकों न जान विपरीत मान,-करि करैं देहमें निज पिछान॥ ३॥

न्यारी=(वि०) जुदी, अलग। चाल=(स०) स्वभाव।
विपरीत=(स०) उलटा।

इस आत्माका स्वभाव पुद्गल, आकाश, धर्म अधर्म और काल—इन पांचों द्रव्योंसे (जिनका स्वरूप आगे कहेंगे) जुदा है। अज्ञानी जीव आत्माका ऐसा स्वरूप न जान कर इससे उलटा मानकर अपनी देहको ही आत्मा समझता है। यह मिथ्यादर्शन की महिमा है।

मिथ्यादृष्टिका शरीरआदि पर पदार्थके प्रतिविचारः—

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥ ४॥

रंक=(सं०) गरीब। राव=(सं०) राजा। गोधन=(सं०) गाय, भैंसादि।
प्रभाव=(सं०) बड़प्पन। तिय=(सं०) स्त्री। सुभग=(वि०) सुन्दर।

मिथ्यादर्शनके कारणसे यह जीव ऐसा माना करता है कि मैं

सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं राजा हूँ, यह मेरा रुपया-पैसा है, यह मेरा घर है, यह मेरी गाय-भैंस हैं, यह मेरा बड़प्पन है ये मेरे लड़के हैं यह मेरी स्त्री है, मैं बलवान् हूँ, मैं निर्बल हूँ, मैं कुरूप हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं चतुर हूँ।

अजीवतत्व और आश्रवतत्वका विपरीतश्रद्धानः—

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रगट ये दुःख दैन, तिनहीको सेवत गिनत चैन ॥५॥

मिथ्यादर्शनके कारणसे यह जीव शरीरके जन्मको अपना जन्म और शरीरके नाशको अपना मरण मान लेता है, और जो राग, द्वेष, क्रोध, मान माया, लोभ आदि अपने देखते देखते जीवों को दुःख देते है उन्हींका सेवन करता हुआ सुख गिन लेता है।

बन्धतत्व और संवरतत्वका विपरीतश्रद्धानः—

शुभ-अशुभ बंधके फल मँझार, रति अरति करै निजपद बिसार।
आतमहित हेतुविराग ज्ञान, ते लखैं आपकौं कष्टदान ॥ ६ ॥

रति=(स०) राग। बिसार=(क्रि०) भूलकर हेतु= (सं०) कारण।

मिथ्यादृष्टि जीव पूर्वमें बांधे हुए शुभकर्मके फल भोगने में तो राग और अशुभ कर्मके फल भोगनेमें अरुचि (द्वेष) करता है; क्योंकि वह अपने आत्माके रूपको भूला हुआ है तथा अपने आत्माकी भलाईके कारण जो वैराग्य और ज्ञान हैं उन्हींको अपने लिये दुखदाई समझता है।

विपरीतश्रद्धान, अगृहीतमिथ्याज्ञानका स्वरूप

रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय ॥
याही प्रतीतिजुत कछुकज्ञान, सो दुखदायक अज्ञान जान ॥ ७ ॥

निराकुलता=(स०) चिन्ता-रहित मोक्ष-सुख। प्रतीति=(सं०) श्रद्धा।

मिथ्यादृष्टिजीव अपने आत्माकी शक्ति (ताकत) को खोकर औ अपनी इच्छाओंको नहीं रोकता है और न चिता-रहित आनन्द-रूप मोक्ष-सुखको ढूंढता है। ऐसी उलटी श्रद्धा-सहित जो कुछ ज्ञान होता है उसीको कष्ट-दाता अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान जानना चाहिये।

अगृहीत-मिथ्याचारित्र-का लक्षण:—

जुत विषयनिमें जो प्रवृत्त, ताकौं जानो मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सुतेह ॥ ८ ॥

जुत=(अ०) सहित। प्रवृत्त=(क्रि०) प्रवृत्ति करना।
निसर्ग=(वि०) जो स्वभावसे हो। गृहीत=(वि०) जो इस भवमें ग्रहण किया हो।

मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानके साथ पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति करना सो मिथ्याचारित्र है। इस तरह मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र जो स्वभावसे ही अनादिकालसे जीवोंके बने रहते हैं, उनका वर्णन किया। अब आगे इन तीनों को इस भव मे ही जीव जैसा देखता है, ग्रहण कर लेता है, उनका वर्णन करते हैं।

गृहीतमिथ्यादर्शन और कुगुरुका स्वरूप—

जो कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव।
अंतररागादिक धरैं जेह, बाहर धन अंबरतैं सनेह ॥ ९ ॥
धारैं कुलिंग लहि महत भाव, ते कुगुरु जन्म-जल-उपलनाव।

पोषैं=(क्रि०) मजबूत करते हैं। चिर=(क्रि० वि०) सदा।
अंबर=(सं०) कपड़ा। कुलिंग=(स०) खोटे भेष।
महत=(वि०) बड़ापन। उपल=(स०) पत्थर।

खोटे गुरु, खोटे देव और खोटे धर्मकी जो सेवा करना है सो मिथ्यादर्शन है। इनकी सेवा दर्शनमोहनीय-नाम-कर्मको सदा मजबूत करती है। जो मनके भीतर तो राग-द्वेष धारण करें और बाहर धन, कपड़ा आदिसे स्नेह करें और अपनेको बड़ा मान कर खोटे भेष धारण करें, वे कुगुरु संसार-समुद्रसे तिरनेके लिए पत्थरकी नावके समान हैं।

कुदेवका-स्वरूपः—

जे रागद्वेषमलकरि मलीन, वनिता-गदादिजुत चिन्ह चीन्ह ॥१०॥
ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, शठ करत न तिन भव-भ्रमण छेव।

वनिता=(सं०) स्त्री। चीन्ह=(क्रि०) पहचानना। शठ=(सं०) मूर्ख। भव=(स०) संसार। छेव=(क्रि०) अन्त।

जो देव राग और द्वेष-रूपी मैल कर मैले हैं तथा स्त्री, गदा वगैरह हथियारों को लिये हुए हैं वे सब खोटे देव हैं। ऐसे देवोंकी सेवा मूर्ख लोग करते हैं, उनसे संसारका तिरना नहीं हो सकता।

कुधर्म और गृहीतमिथ्यादर्शनका लक्षण:—

रागादि भावहिंसासमेत, दर्वित त्रस थावर मरण खेत ॥११॥
जे क्रिया तिन्हैं जानहु कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहै अशर्म।
याकूं गृहीतमिथ्यात जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान ॥१२॥

भावहिंसा = (स०) भावोंका दुखाना।
दर्वित = (वि०) प्रगटरूपसे जिसमें प्राणोंका नाश हो।
खेत = (स०) ठिकाना। अशर्म = (स०) दुःख।

जिन कार्यों में राग-द्वेष पैदा हो, अपने और दूसरेके भावोंको दुःख हो तथा प्रगट-रूप त्रस और थावर जीवोंके मरनेका ठिकाना हो, उनको खोटा धर्म जानो। ऐसे कुधर्मको जो धर्म समझे वह दुःख पाता है। ऊपर कहे अनुसार खोटे गुरु, देव और धर्मका जो श्रद्धान सो गृहीत-मिथ्यादर्शन है। अब गृहीत-मिथ्याज्ञानका हाल सुनो।

गृहीतमिथ्याज्ञानका लक्षण—

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
कपिलादिरचित श्रुतको अभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास १३

एकान्तवाद-दूषित = (वि०) जो एक स्वाभव या नयको पकड़ कर उसके हठसे दोषी हों।
समस्त = (वि०) सब। अप्रशस्त = वि०) खोटे।

जो एकान्तपक्षसे दोषी हैं, पंचेंद्रियोंके विषय-कषायोंके दृढ़ करनेवाले और कपिल आदिके द्वारा बनाये हुए हैं, ऐसे सब शास्त्रोंका पढ़ना सो बहुत दुःख देनेवाला मिथ्याज्ञान है।

गृहीतमिथ्याचरित्रका स्वरूप—

जो ख्यातिलाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देहदाह।
आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन ॥१४॥

ख्याति=(सं०) नामवरी। विविध=वि०) नाना प्रकार
करनी= (स०) कार्य। करन छीन=(वि०) नाश करनेवाली
अनात्म=(सं०) देहादि।

अपनी नामवरी, रुपये-पैसेका लाभ और अपनी पूजा-प्रतिष्ठाकी चाहना मनमें धारण कर जो तरह तरहकी रीतियोंसे शरीरको जलाना, तथा जीव और देहके भेदको न जान कर जो तरह तरहके दूसरे अधर्मके काम शरीरको नाश करनेवाले हैं वे सब गृहीत मिथ्याचारित्र हैं।

मिथ्याचरित्र और संसारके त्यागका उपदेश:—

ते सब मिथ्याचारित्र त्याग, अब आतमके हित-पंथ लाग।
जगजाल-भ्रमणको देहु त्याग, अब दौलत निज आतम सुपाग १५

पंचाग्नि तपना, भभूत लगाना, नख-केश बढाना आदि खोटा तप सब मिथ्याचारित्र है, इसको छोडो। हे दौलतराम ! अब तू ऐसे मार्ग में लग, जिसमें आत्माका हित हो, जगतके जंजालमें घूमनेका त्याग कर और अपने आत्मामें लीन हो।

दूसरी ढालका भावार्थ

संसारको चारों गतियोंमें घुमानेवाले दुःखदायी ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्या-ज्ञान और मिथ्या-चारित्र हैं। ये तीनों दो भेदरूप हैं—एक

अगृहीत, दूसरा गृहीत। अगृहीत —जो पहलेसे ही साथ चला आया हो गृहीत जो इस भव में ग्रहण किया हो। आत्मा और शरीरको एक निश्चय करना सो मिथ्यादर्शन है। इनका भेद न समझना सो मिथ्याज्ञान है। दिन-रात खाने-सोने और विषयोंमें मन लगाना सो मिथ्याचारित्र है। यह अगृहीतका स्वरूप है।

कुगुरु, कुदेव, कुधर्मको सच्चा मानना सो मिथ्यादर्शन है। संसार बढानेवाले खोटे शास्त्रोंका पढना सो मिथ्याज्ञान है। ज्ञान बिना देहको नाश करनेवाले हिंसामयी तप करना सो मिथ्याचारित्र है। यह गृहीतका स्वरूप है। इन तीनोंको छोडकर आत्माका भला करना चाहिये।

तीसरी ढाल

सच्चासुख और द्विविध मोक्षमार्गका लक्षण —
नरेन्द्र छन्द (जोगीरासा)

आतमको हित है सुख, सो सुख आकुलता-बिन कहिये।
आकुलता शिवमाहिं न तातैं, शिव,-मग लाग्यौ चहिये.॥
सम्यकदर्शन-ज्ञान-चरन शिव,-मग सो दुविधि विचारो।
जो सत्यारथ-रूप सु निश्चय, कारण सो व्यवहारा ॥ १ ॥

शिव= (सं०) मोक्ष। मग= (स०) मार्ग।

आत्माका भला सुख पानेमें है। सुख उसे कहते हैं जिसमें आकुलता अर्थात् कोई तरह की चिन्ता न हो। यह आकुलता मोक्षमे

नहीं है, संसारमें सबही जगह है। इसलिये सुखके चाहनेवालोंको मोक्षके मार्ग पर चलना चाहिये। मोक्षका रास्ता सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंके स्वरूपका दो तरहसे विचार करना चाहिये। एक तो निश्चय, जो ठीक सच्चा सच्चा स्वरूप है दूसरा व्यवहार, जो निश्चयके पानेका कारण है।

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका स्वरूप.—

परद्रव्यनतैं भिन्न आपमें, रुचि सम्यक्‍ भला है।
आपरूपको जानपनो सो, सम्यक्‌ज्ञान कला है॥
आपरूपमें लीन रहे थिर, सम्यक्‌चारित सोई।
अब व्यवहार मोख-मग सुनिये, हेतु नियतको होई॥२॥

रुच=(स०) श्रद्धा, यकीन, गाढ निश्चय। नियत=(स०) निश्चय।

पर अर्थात् दूसरे द्रव्योंसे आत्माको जुदा जान कर आत्मामें रुचि करना सो निश्चय सम्यग्दर्शन है। अपने आत्माके स्वरूपका विशेष ज्ञान होना सो निश्चयसम्यग्ज्ञान है। अपने आत्माके स्वरूपमें एक-चित्त हो लीन अथवा तन्मय हो जाना सो निश्चयसम्यकचारित्र है। अब आगे निश्चयमोक्ष-मार्गका प्राप्त करनेका कारण व्यवहार मोक्ष-मार्गका कथन करते हैं। तुम सुनो।

व्यवहारसम्यग्दर्शनका स्वरूप

जीव अजीव तत्व अरु आस्रव बंधरु संवर जानो।
निर्जर मोक्ष कहे जिन तिनकों, ज्योंको त्यों सरधानो

है सोई समकित विवहारी, अब इन रूप बखानो।
तिनको सुन सामान्य विशेषैं, दिढ़ प्रतीति उर आनो ॥३॥

सामान्य =(वि०) वस्तु का साधारण स्वरूप।
विशेष =(वि०) वस्तुका विशेष स्वरूप गुण कार्य आदि।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष-इन सातों तत्त्वोंका स्वरूप जैसा जिनेन्द्र भगवानने कहा है वैसा ही श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। सातों तत्त्वोंका सामान्य और विशेष स्वरूप आगे कहते हैं। उसे समझ कर मनमें लाओ।

जीवके भेद बहिरात्मा और उत्तम अन्तरात्मा—

बहिरातम अन्तरआतम पर-मातम जीव त्रिधा है।
देह जीवको एक गिनैं बहि-रातम तत्त्व मुधा है॥
उत्तम मध्यम जघन त्रिविधके, अन्तरआतम ज्ञानी।
द्विविधि संग बिन शुध उपयोगी, मुनि उत्तम निजध्यानी ॥४॥

त्रिधा =(वि०) तीन तरहके। मुधा =(वि०) मूर्ख।

द्विविधि संग =(सं०) दो प्रकार का परिग्रह- १४ प्रकार का अन्तरंग और १० प्रकारका बहिरंग। १ मिथ्यात्व, २ वेद (स्त्री, पुरुष, नपुंसक,) ३ राग, ४ द्वेष, ५ हास्य (हँसी), ६ रति (मन लगना), ७ अरति (मन न लगना), ८ शोक, ९, भय १० जुगुप्सा (ग्लानि), ११ क्रोध (गुस्सा), १२ मान (घमंड), १३ माया (दगाबाजी), १४ लोभ, ये चौदह अंतरंग

परिग्रह हैं। १ क्षेत्र (खेत), वास्तु (मकान), ३ हिरण्य (चांदी), ४ सुवर्ण (सोना) ५ धन (गाय-भैंसादि), ६ धान्य (अन्नादि), दासी, ८ दास, ६ कुप्य (कपड़ा), १० भाण्ड (वर्तन), ये १० बहिरंग परिग्रह हैं।

जीव तीन प्रकारके होते हैं—१ बहिरात्म, २ अन्तरात्म, ३ परमात्म। जो शरीर और आत्मा को एक गिनते हैं वे तत्त्वोंसे अजान बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) जीव हैं। जो आत्माको जानते हैं वे अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टि) जीव हैं। ये तीन प्रकारके होते हैं-उत्तम, मध्यम, जघन्य। जो २४ प्रकारके परिग्रह-रहित शुद्धपरिणामी आत्मध्यानी मुनि हैं वे उत्तम हैं।

मध्यम जघन्य अन्तरात्मा तथा सकलपरमात्माका स्वरूप—

मध्यम अन्तरआतम हैं जे, देशव्रती अनगारी।
जघन कहे अविरतसमदृष्टि, तीनों शिवमगचारी॥
सकल निकल परमातम द्वै विधि, तिनमें घाति निवारी।
श्री अरहंत सकलपरमातम, लोकालोक निहारी ॥ ५ ॥

देशव्रती =(वि०) १२ व्रत पालने वाले श्रावक, जिनका वर्णन चौथी ढालमें है।
अनगारी = (सं०) गृह-रहित छट्टे गुणस्थानवर्ती साधु।
अविरत = (वि०) १२ व्रत नियमसे नहीं पालनेवाले।
सकल = (वि०) शरीर-सहित। निकल = (वि०) देह-रहित।
घाति = (सं०) ज्ञानावरणी (जो ज्ञानको रोके), दर्शनावरणी (जो दर्शनको रोके), अन्तराय (जो विघ्न करे), मोहनीय (जो मोह पैदा करे)-ये ४ घातिया-कर्म, जो आत्माके स्वभावको घात करनेवाले हैं।
निवारी = (वि०) नाश करनेवाले। निहारी = (वि०) देखनेवाले।

मध्यम-अन्तरात्मा देशव्रती गृहस्थ और सरागी छट्ठे गुणस्थानवर्ती

मुनि हैं। जघन्य अन्तरात्मा व्रत-रहित सम्यग्दृष्टि हैं। ये तीनों ही अन्तरात्मा मोक्षमार्गमें चलनेवाले हैं। परमात्मा दो प्रकारके होते हैं--एक सकल-परमात्मा, दूसरे निकल-परमात्मा। जिन्होंने ४ घातिया-कर्म नाश किये, जो लोक और अलोकको देखनेवाले हैं ऐसे श्री अरहंत भगवान् शरीर-सहित सकल-परमात्मा हैं।

निकलपरमात्माका स्वरूप और उसके ध्यान का उपदेश—

ज्ञानशरीरी त्रिविधि कर्म,-मल-वर्जित सिद्ध महंता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगैं शर्म अनन्ता॥
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तरआतम हूजै।
परमातमको ध्याय निरन्तर, जो नित आनन्द पूजै॥६॥

त्रिविध कर्म—(म०) तीन प्रकार के कर्म। १ द्रव्यकर्म, जो ८ हैं ४ घातिया, जो ऊपर कह आये और ४ अघातिया–१ आयु (जिससे उस भवके भीतर रहना होता है), २ नाम (जो शरीर के आंगोपांग बनाता है), ३ गोत्र (जिससे ऊँच नीच कुल में जन्म होता है), और ४ वेदनीय (जो सुख दुःख देता है)। २ भावकर्म, जैसे राग-द्वेष क्रोधादि। और ३-नोकर्म ३ प्रकारके हैं–१ओदारिक जैसे मनुष्य और पशुओंका देह, २ वैक्रियिक जैसे देव और नारकियोंका देह, ३ आहारक जो ऋद्धिधारी मुनिके मस्तकसे निकलता है और केवलीको दर्श कर मुनिकी शंकाको दूर करता है।

वर्जित = (वि०) रहित हेय = (वि०) छोड़ने लायक।

ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो तीन प्रकारके कर्म-मलसे रहित हैं, ऐसे महान् सिद्ध भगवान् जड़ शरीर-रहित निर्मल निकल-परमात्मा हैं, जो अनन्तकाल तक सुख भोगते रहते हैं। हे भाई बहिरात्मपनेको त्यागने योग्य जान कर छोड़ दे और अन्तरात्मा होकर सदा दोनों प्रकारके परमात्माकी सेवा कर, जिससे तुझे निरन्तर आनन्दकी प्राप्ति हो।

अजीव, पुद्गल, धर्म और अधर्मद्रव्यका लक्षण:—

चेतनता-बिन सो अजीव है, पंच भेद ताके हैं।
पुद्गल, पंच वरन, रस पन, गँध,–दु फरस वसु जाके हैं॥
जिय पुद्गलको चलन सहाई, धर्मद्रव्य अनरूपी।
तिष्ठत होय अधर्म सहाई, जिन बिन-मूर्ति निरूपी॥ ७॥

पुद्गल=(सं०) जो पूरे और गले अर्थात् जिसके परमाणु मिल जायें और बिछुड़ जायें। इसमें २० गुण होते हैं।
पंच वरन=(सं०) पाँच रंग (हरा, लाल, काला, पीला, सफेद)।
पन रस=(सं०) पाँच रस (खट्टा, मीठा, चरपरा, कडुवा, कषायला)।
दु गंध=(सं०) दो प्रकार की गंध (सुगन्ध, दुर्गन्ध)।
वसु फरस=(सं०) आठ तरह का स्पर्श (गर्म, ठंडा, हलका, भारी, कोमल, कठोर, रूखा, चिकना।
तिष्ठत=(क्रि०) ठहरते हुए। निरूपी=(क्रि०) कही है।

अजीव तत्त्व वह है जिसमें चेतनता अर्थात् जानने देखनेकी शक्ति नहीं होती। यह पांच प्रकार का है। पहला भेद पुद्गलद्रव्य है, जिसके पाँच रंग, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्श, ऐसे २० गुण होते हैं। दूसरा भेद धर्मद्रव्य है, जो जीव और पुद्गलको, जब ये दोनों अपनी शक्तिसे चलते हैं तब, चलनेमें सहायता करता है, तथा मूर्तिरहित है। तीसरा भेद अधर्मद्रव्य है, जो जीव और पुद्गलको, जब वे अपने आप ठहरते हैं तब ठहरनेमें सहाय करता है। इसे भी जिनेन्द्र भगवानने अमूर्तिक कहा है।

आकाश, काल और आस्रवका स्वरूप और भेद—

सकल द्रव्यको वास जासमें, सो आकाश पिछानो।
नियत वर्तना निशदिन सो व्यव, हार काल परिमानो॥

यों अजीव, अब आस्रव सुनिये, मन-वच-काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरत अरु कषाय पर-माद सहित उपयोगा ॥८॥

नियत=(वि०) निश्चय।
वर्तना=(स०) जो आप पलटे और दूसरोंको पलटावे।

चौथा भेद आकाश द्रव्य है, जिसके भीतर सब द्रव्य रहते हैं (तीनों लोक आकाशके भीतर हैं) पाँचवाँ भेद काल द्रव्य है। यह दो प्रकार का है एक निश्चय-काल, जिसका स्वरूप सब द्रव्योंको परिवर्तन होनेमें सहाय करनेका है। दूसरा व्यवहार-काल, जो रात, दिन, घड़ी, पहर मिनिटके नामसे माना जाता है। ये पांच तरहके अजीव हैं। (इनमें जीव-द्रव्य मिलानेसे छह द्रव्य कहलाते हैं।) तीसरा तत्व आस्रव है, इसका स्वरुप सुनिये। कर्मोंका आत्माके पास आना और जिस कारणसे आना सो आस्रव है। मन, वचन, काय इन तीनोंका हलना सो योग है इसीसे कर्मका आस्रव होता है। मिथ्यादर्शन, अविरत (व्रत न पालन,) कषाय (क्रोधादि,) प्रमाद (आलस्य,) इन सहित जो उपयोग अर्थात् आत्मा के भाव हैं।

आश्रवके त्यागका उपदेश और बंध, संवर, निर्जरा तत्त्व लक्षण:—

ये ही आतमको दुःख कारण, तातैं इनको तजिये।
जीव प्रदेश बँधे विधिसौं सो, बँधन कबहुँ न सजिये ॥
शम दमतैं जो कर्म न आवै, सो संवर आदरिये।
तपबलतैं विधि-झरन निर्जरा, ताहि सदा आचरिये ॥ ९॥

विधि =(सं०) आठों कर्म। न सजिये=(क्रि०) नहीं कीजिये।
शम =(स०) शांति-कषायोंको कम करना।
दम =(स० इन्द्रिय और मनको वशमें रखना।
तप=(सं०) इच्छाओंको रोककर ध्यान करना।

· ये (भाव) ही आत्माको दु.खके देने वाले हैं, इसलिये इनको छोड़ना चाहिये। इन्हीं भावोंके कारण जीवके प्रदेश (स्थान) कर्मोंसे बंध जाते हैं। (यह चौथे बंधतत्त्वका स्वरूप है।) सो हे भाई! ऐसा बंधन कभी नहीं करना चाहिये। शम और दमसे आते हुए कर्म रुकते हैं, यह पाँचवें संवर तत्त्वका स्वरूप है। इसका आदर करना चाहिये। तपके जोरसे कर्मोंका झरना अर्थात् आत्मासे अलग होना, सो छठे निर्जरा तत्वका स्वरूप है। इन संवर और निर्जरा तत्त्वोंको सदा काममें लाना चाहिये।

मोक्षका लक्षण और व्यवहारसम्यक्त्वका स्वरूप.—

सकलकर्मतैं रहित अवस्था, सो शिव, थिर सुखकारी।
इहिविधि जो सरधा तत्त्वनकी, सो समकित व्यवहारी॥
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रह बिन, धर्म दयाजुत सारो।
यहु मान समकितको कारण, अष्ट-अङ्ग-जुत धारो॥ १०॥

सब (आठों) कर्मोंके छूटने पर जो आत्माकी दशा हो जाती है, सो मोक्ष है। वह सदा थिर अर्थात् एक रूप और सुखदाई है। यह सातवें मोक्ष तत्त्वका स्वरूप है। इस तरह जो सातों तत्त्वोंकी श्रद्धा करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है। श्री जिनेन्द्र अरहन्त भगवान् देव २४ प्रकारके परिग्रह-रहित गुरु और दयामई धर्म, ये तीनों भी सम्यग्दर्शनके कारण हैं। इस सम्यक्तको आठ अङ्ग-सहित धारण करो।

सम्यक्त्वके २५ दोष और ८ गुण:—

वसु मद टारि निवारि त्रिशठता, षट् अनायतन त्यागो।
शंकादिक वसुदोष बिना, संवेगादिक चित पागो॥

अष्ट अङ्ग अरु दोष पचीसों, तिन संक्षेपहु कहिये ।
बिन जानेंतैं दोष गुननको, कैसे तजिये गहिये ॥ ११ ॥

बसु मद=(स०) आठ घमण्ड । निवारि=(क्रि०) दूर कर ।
त्रिशठता=(स०) तीन मूढ़ता । षट्-अनायतन=(सं०) छह अधर्मके स्थान ।
संवेगादि=(स०) पाच इन्द्रिय और मनका वश करना आदि ।

आठ मद, तीनमूढ़ता, छह अनायतन और शंका आदि आठ दोष ऐसे २५ दोषों का दूर कर संवेगादि गुणोंको चित मे धारण करो। ८ अङ्ग और २५ दोषों का स्वरूप सक्षेपसे कहते हैं। क्यों कि दोष और गुण दोनोंको जाने बिना कोई दोषों का कैसे छोड़े और गुणों को कैसे ग्रहण करे ?

सम्यक्त्व के ८ अंगोंका निरूपण —

जिनवचमें शंका न धार, वृष, भव-सुख-वांछा भानै ।
मुनि-तन मलिन न देख घिनावै, तत्त्वकुतत्त्व पिछानै ॥
निज गुण अरु पर औगुण ढाँकै, वा निज धर्म बढ़ावै ।
कामादिक कर वृषतैं चिगतैं, निज परको सु दिढ़ावै ॥१२॥

वृष=(स०) धर्म । भानै=(क्रि०) नाश करे ।
चिगते=(क्रि०) गिरते हुए । दिढ़ावै=(क्रि०) स्थिर करे ।
घिनावै=(क्रि०) घृणा करना ।

अब आठ अंगों का स्वरूप कहते हैं :—



१ जिन भगवान के कहे वचनोंमें संशय न करना सो निःशंकित अंग है ।
२ धर्मसेवन करके ससारके सुखोंकी इच्छा न करना सो निःकांक्षित अग है ।

३ मुनि महाराज या अन्य धर्मात्माके शरीरको मैला देखकर घृणा न करना सो निर्विचिकित्सा-अंग है।

४ खोटे-खरे तत्त्वको पहचान कर मूढ़ताकी ओर नहीं जाना सो अमूढ़-दृष्टि-अंग है।

५ अपने गुण और परके दोष छिपावे या अपना धर्म अधिक करे सो उपगूहन अंग है।

६ काम आदि कोई कारणके वशसे धर्मसे चित्त डिगता हो तो उस समय जिस तरह बने अपनेको और दूसरेको धर्ममें दृढ़ करना सो स्थितिकरण-अंग है।

धर्मीसों गौ-वच्छ-प्रीति-सम, कर, जिनधर्म दिपावै।
इन गुनतें विपरीत दोष वसु, तिनकों सतत खिपावै ॥

अष्टमद

पिता भूप वा मातुल नृप जो, होय, न तो मद ठानै।
मद न रूपको मद न ज्ञानको, धन बलको मद भानै॥१३॥

दिपावै=(क्रि०) उन्नति करे, चमकावे। सतत=(क्रि० वि०) निरन्तर, हमेशा।
विपरीत=(वि०) उलटे खिपावै=(क्रि०) दूर करे।
मातुल=(स०) मामा। नृप=(स०) राजा।

७ जैसे गाय अपने बच्चेसे प्रीति करती है वैसी धर्मात्मासे प्रीति करना सो वात्सल्य-अंग है।

८ जैनधर्मकी जिस तरह बने उन्नति करना सो प्रभावनांग है। ये सम्यक्त्वके ८ अंग हैं। इन गुणोंसे उलटे शंकादि आठ दोष हैं, जो २५ दोषोंमें गर्भित हैं। उन्हें सदा दूर करे।

अब आठ मद कहते हैं :—

१ कुलमद—अपना पिता राजा हो उसका घमंड करना।
२ जातिमद—अपना मामा राजा हो उसका घमंड करना।
३ रूपमद—अपना शरीर सुन्दर हो उसका घमंड करना।
४ ज्ञानमद—आप ज्ञानवान होकर घमंड करना।
५ धनमद—अपने पास रुपया अधिक हो उसका घमंड करना।
६ बलमद—आप बलवान होकर अपनी ताकत का घमंड करना।

सम्यक्त्व के ८ मद, ६ अनायतन, ३ मूढ़ता

तपको मद न मद जु प्रभुताको, करै न सो निज जानै।
मद धारै तौ यही दोष वसु, समकितको मल ठानै।
कुगुरु-कुदेव-कुवृष-सेवककी, नहिं प्रशंस उचरै है।
जिन मुनि जिनश्रुत बिन, कुगुरादिक, तिन्हैं न नमन करै है॥४१॥

प्रभुता=(स०) बड़प्पन, ऐश्वर्य। उचरै है=(क्रि०) करना है।

७ तपमद—आप बहुत तपस्या करता हो उसका घमंड करना और
८ प्रभुतामद—अपनी आज्ञा बहुत चलती हो उसका घमंड करना।

अपने आत्माको इनसे अलग जानकर ये आठ मद नहीं करना चाहिये। यदि घमंड करे तो ये ही आठ दोष सम्यक्त्व को मैला

अब छह अनायतन कहते हैं—खोटे गुरु, खोटे देव, खोटे धर्म, और इन तीनों के सेवक, ये छह धर्म के आयतन नहीं हैं। इनकी प्रशंसा नहीं करना चाहिये। यदि प्रशंसा करे तो ये ही छह दोष हो जाएंगे।

अब तीन मूढ़ता कहते हैं। जिन भगवान् अरहत, निर्ग्रंथ मुनि और अरहतका कहा हुआ शास्त्र, इनके सिवा रागी देव, पाखंडी गुरु, खोटे शास्त्र और खोटे धर्मको सम्यक्त्वी नमस्कार नहीं करता। जो नमन करे तो ये ही तीन दोष हैं। (ये २५ दोष पूर्ण हुए।)

अविरत सम्यग्दृष्टिकी महत्ता और उदासीनता

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यकदर्श सजै हैं।
चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं॥
गेही, पै गृहमें न रचैं ज्यों जलमें भिन्न कमल है।
नगरनारिको प्यार यथा कादेमें हेम अमल है॥ १५॥

सुधी = (वि०) बुद्धिमान। सुरनाथ = (स०) इन्द्र।
संजम = (स०) व्रत, उपवास। सजै हैं = (क्रि०) शोभायमान हैं।
लेश = (वि०) थोड़ा भी। जजै हैं = (स०) पूजन करते हैं।
नगरनारि = (स०) वेश्या। कादे = (स०) कीचड़।
हेम = (स०) सोना। गेही = (स०) गृहस्थी।

जो बुद्धिमान् २५ दोष दूर कर और आठ गुण धारण कर सम्यग्दर्शनसे शोभायमान हैं वे चरित्रमोहनीय कर्मके अधीन होनेसे व्रत उपवास थोड़े भी न कर सकें, तो भी उन सम्यग्दृष्टियोंकी इन्द्र पूजा करते हैं। यद्यपि वे गृहस्थी हैं, परन्तु घर में नहीं रहते अर्थात् लीन नहीं होते। जैसे जलके भीतर रहनेवाला कमल जलसे अलग रहता है, उसी तरह वे रहते हैं। घरसे उनकी प्रीति वेश्याकी प्रीतिके समान होती है, जो कभी स्थिर नहीं होती। जैसे कीचड़में पड़ा हुआ सोना भी निर्मल ही रहता है, वैसे वे गृहस्थी में निर्मल ही रहते हैं।

सम्यक्त्वकी महिमा और सम्यग्दृष्टिके अनुत्पत्तिस्थान

प्रथम नरक विन षट् भू ज्योतिष वान भवन पंढ नारी।
थावर विकलत्रय पशुमें नहिं, उपजत सम्यकधारी।
तीनलोक तिहुँकालमाहि नहिं, दर्शनसों सुखकारी।
सकल धरमको मूल यही इस,—विन करनी दुखकारी ॥१६॥

षट् भू = (सं०) छह पृथ्वी (नरक) वान (सं०) व्यंतर।
करनी = (सं०) सब धर्म-कर्म। पंढ = (सं०) नपुंसक।

सम्यग्दर्शनका धारी जीव इतनी जगह मरकर नहीं जाता—पहले नरकके सिवा छह नरकोंमें; ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवोंमें; नपुंसकोंमें और स्त्रियोंमें, स्थावर एकेन्द्रियोंमें; द्वीन्द्रिय, तेन्द्रिय चौ-इन्द्रिय-इन विकलत्रय और पशुओंमें। तीनों लोक और तीनों कालमें सम्यग्दर्शनके समान कोई भी सुखकारी नहीं है। सब धर्मोंकी जड़ यही है। इसके बिना जितनी क्रियाएँ हैं वे सब दुखकारी हैं।

सम्यक्त्वके विना ज्ञान और चरित्रका मिथ्यापन

मोक्षमहलकी परथम सीढ़ी, या विन ज्ञान चरित्रा।
सम्यकता न लहै, सो दर्शन, धारौ भव्य पवित्रा॥
'दौल' समझ सुन चेत सयानें, काल वृथा मत खोवै।
यह नरभव फिर मिलन कठिन है, जो सम्यक नहिं होवै ॥१७॥

सम्यकता = (सं०) सत्यपना। पवित्रा = (वि०) निर्मल।
सयाने = (सं०) चतुर।

यह सम्यग्दर्शन मोक्ष-रूपी महलमें चढ़नेको पहली सीढ़ी है। इसके बिना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने अर्थात् सत्यपनेको प्राप्त नहीं होते। हे भव्यजनो! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन को धारण करो। हे दौलतराम! समझ, सुन, चेत! यदि तू सयाना है तो बे-मतलब समय न खो। जो इस जन्म मे सम्यग्दर्शन नहीं मिला, तो फिरसे ऐसे उत्तम मनुष्य-जन्मका मिलना बहुत दुर्लभ है।

तीसरी ढालका भावार्थ।

सुखका लक्षण निराकुलता है। उसका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। ये तीनों दो भेद-रूप हैं—निश्चय और व्यवहार। व्यवहार निश्चयका कारण है। आत्माका निश्चय और ज्ञान तथा उसमें लीन होना सो निश्चय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। जीव आदि सात तत्त्वोंका ठीक ठीक श्रद्धान करना सो व्यहार सम्यग्दर्शन है सच्चे देव, गुरु और धर्मका श्रद्धान करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शनका कारण है। सम्यग्दर्शनका पालन आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढ़ता, ऐसे २५ दोष न लगाकर निर्मलतासे करना चाहिये। सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है, अथवा धर्मरूपी घरकी नींव है; इसलिये सबसे पहले मनुष्यको इसे धारण करना चाहिये, इसके बिना सब धर्म क्रियाएं अतिशयरूप पुण्य नहीं पैदा करतीं। मनुष्य-जन्ममें और उत्तम कुल पाकर यदि फिर भी सम्यग्दर्शन नहीं धारण किया तो यही समझना चाहिये कि बड़ा भारी अवसर खो दिया; क्योंकि ऐसा उत्तम नर-भव बार बार नहीं मिलता। सम्यग्दर्शन की ऐसी महिमा है कि इसका धारी मरकर उत्तमदेव और मनुष्य ही होता है; स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता, नरक भी जाता है तो पहले नरकसे नीचे नहीं जाता। इसलिये हे भव्य जीवो! जिस तरह बने

शास्त्र-स्वाध्याय द्वारा अथवा सत्सगति द्वारा सात तत्त्वोंका स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन-रूपी रत्नसे अपने आत्माको पवित्र करो।

चौथी ढाल

(दोहा)

सम्यग्ज्ञानका लक्षणः—

सम्यकश्रद्धा धारि पुनि, सेवहु सम्यग्ज्ञान।
स्व-पर-अर्थ बहु धर्मजुत, जो प्रगटावन भान॥

सम्यग्दर्शनको धारण कर फिर सम्यग्ज्ञान की सेवा करो। यह सम्यग्ज्ञान बहुमतसे धर्म अर्थात स्वभावोंको रखनेवाले आत्मा और अन्य पदार्थोंका प्रकाश करनेके लिये सूर्यके समान है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें अन्तरः—

(रोला छन्द)

सम्यक् साथै ज्ञान होय, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जानि दुहूमें भेद अबाधौ॥
सम्यक् कारण जान, ज्ञान कारज है सोई।
युगपत होतें हू, प्रकाश दीपकतैं होई॥ १॥

अराधौ=(क्रि०) समझना। अबाधौ=(वि०) बाधा-रहित, निर्विघ्न, । युगपत=(क्रि० वि०) एक ही समयमें।

सम्यग्दर्शनके साथ ही जो ज्ञान होता है वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है; परन्तु दोनोंको अलग अलग समझना चाहिये। क्योंकि दोनोंके लक्षणमें भेद है। सम्यक्त्वका लक्षण श्रद्धा करना है और ज्ञानका लक्षण ठीक ठीक जानना है। इनमें इस प्रकार का भेद होने परभी कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। यद्यपि ये एक ही समयमें होते हैं तो भी इनमें कार्यकारण का भेद है। जैसे दीपक जलनेके साथ ही प्रकाश होता है, पर दीपक प्रकाशका कारण है। बिना सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची श्रद्धा हुए बिना ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं कहते। इसलिये सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है।

सम्यग्ज्ञानके भेद, देशप्रत्यक्षके भेद व लक्षण —

तास भेद दो हैं परोक्ष परतछि तिन माहीं।
मति श्रुत दोय परोक्ष अक्ष मनतैं उपजाहीं॥
अवधिज्ञान मनपर्जय दो हैं देस-प्रतच्छा।
द्रव्य क्षेत्रपरिमाण लिये जानैं जिय स्वच्छा॥ २॥

परतछि-प्रत्यक्ष =(वि०) जिससे आत्मा स्वयं देख सके।
परोक्ष =(वि०) जिससे आत्मा स्वयं न देख सके, परन्तु इन्द्रिय और मनकी सहायतासे देखे। अक्ष= (स०) पाच इन्द्रिय।
अवधिज्ञान= (स०) जिस ज्ञानसे मर्यादा- देश= (वि०) थोड़ा।
रूपसे द्रव्यक्षेत्र आदि रूपी पदार्थ जाने जाय। स्वच्छ= (वि०) निर्मल।
मनःपर्ययज्ञान= (वि०) जिस ज्ञानसे दूसरे के मनकी सूक्ष्म बातें जानी जांय।

सम्यग्ज्ञानके दो भेद हैं-एक परोक्ष, दूसरा प्रत्यक्ष। इनमें मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान तो परोक्ष हैं; क्योंकि ये पांच इन्द्रिय और मनकी

सहायता से पैदा होते हैं। और अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान देश-प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि निर्मल आत्मा इनके द्वारा रूपी द्रव्य और कोई [illegible] बात को जानता है।

सकलप्रत्यक्ष और ज्ञानका महत्व:—

सकलद्रव्यके गुन अनन्त, परजाय अनन्ता।
जानै एकै काल, प्रगट केवलि भगवन्ता ॥
ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारन।
इह परमामृत जन्मजरामृतु रोग-निवारन ॥ ३ ॥

आन=(वि०) दूसरा। परमामृत=(सं०) उत्तम अमृत।
जन्मजरामृत=(सं०) जन्मना बुढ़ापा और मरना।

पांचवाँ सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान है। वह सकल-प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा केवली भगवान् एक ही समयमें सब द्रव्योंके अनन्त गुणोंको और उनकी अनन्त अवस्थाओंको प्रगट-रूपसे, हथेलीमें रक्खे हुए आँवलेकी तरह, जानते हैं। इस जगतमें जीवोंको सुख देनेवाला ज्ञानके बराबर दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। यह ज्ञान ही उत्तम अमृतके समान है। इस ज्ञानामृतके पीनेसे ही जन्म, जरा और मरण, जो तीन भयानक रोग हैं, दूर हो जाते हैं।

ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म निर्जराका अन्तर:—

कोटिजन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानीके छिनमें त्रिगुप्तितैं सहज टरैं ते ॥

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥ ४ ॥

कोटि = (वि०) करोड़ों। त्रिगुप्ति = (स०) मन-वचन कायका रोकना।
ग्रीवक = (सं०) १६ स्वर्ग के ऊपर ६ ग्रीवक विमान है। (यहा तक मिथ्या-दृष्टि जा सकता है।)

ज्ञानके बिना अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मोंमें तप करके जितने कर्मों को दूर करता है उतने कर्मोंको ज्ञानी जीव एक क्षण-भरमें अपने मन, वचन, कायको रोकनेसे सहजमें नाश कर देता है। इस जीवने अनन्त बार मुनिव्रत धारण किया और ग्रीवक विमानोंमें भी यह गया, परन्तु आत्मज्ञानके बिना इसे जरा भी सुख प्राप्त नहीं हुआ।

तत्त्व अभ्यास की प्रेरणा, ज्ञानके दोषोंका त्याग और मनुष्य पर्याय, सुकुल एवं जिनवाणीकी दुर्लभता:—

तातैं जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजै॥
यह मानुष पर्याय, सुकुल, सुनिवो जिनवानी।
इह विधि गये न मिलै, सुमणि ज्यौं उदधि समानी॥५॥

कथित = (क्रि०) कहा हुआ। अभ्यास करीजे = (क्रि०) पढ़िये।
संशय = (सं०) शंका करना, जैसे कि यह चाँदी है कि सीप।
विभ्रम = (सं०) उलटा मान लेना, जैसे सीपको चांदी समझना।
मोह = (सं०) कुछ जाननेकी परवाह न करना, जैसे मार्गमें जाते हुए पगमें

तिनका लगे तो कुछ जाननेका उद्यम न करके यह विचार लेना कि कुछ होगा।
सुमणि=(सं०) सुन्दर रत्न। उदधि=(सं०) [illegible]।
समानी=(क्रि०) समा जाय, गिर जाय।

इसलिये जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए तत्त्वों और शास्त्रोंका अभ्यास करना चाहिये और संशय, विभ्रम और विमोह-इन तीनों दोषोंको छोड़कर आत्मा को पहचानना चाहिये। यह नर-भव, उत्तम कुल तथा जिनवाणीका सुनना जो इस समय मिला है, यदि इसी तरह (आत्म-ज्ञान हुए बिना) बीत गया तो फिर इनका मिलना वैसा ही कठिन है जैसे समुद्रके भीतर गिरे हुए रत्नका मिलना मुश्किल है।

ज्ञानकी महिमा, उसका कारण और विवेक प्राप्तिः—

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपको रूप भये, फिर अचल रहावै।
तास ज्ञानको कारन, स्वपर विवेक बखानौ।
कोटि उपाय बनाय भव्य ताको उर आनौ॥ ६॥

समाज=(सं०) लोगोंका समूह। बाज=(सं०) घोड़ा।

धन, समाज, हाथी, घोड़ा, राज्य आदि कोई अपने आत्माके काम नहीं आता है। ज्ञान जो आत्माका स्वरूप है, उसीके होनेसे आत्मा निश्चल रहता है। अर्थात् केवलज्ञान अवस्था पाकर एक-रूप रहता है। उस आत्म-ज्ञानका कारण अपने और परायेका विवेक अर्थात् भेद-ज्ञान होना कहा गया है। सो हे भव्य! करोड़ों उपायों द्वारा जिस तरह बने उस विवेकको अपने चित्तमें लाओ

सम्यग्ज्ञानका महत्व और विषय-चाह रोकनेका उपायः—

जे पूरब शिव गये, जाहिं, अब आगे जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी, मुनिनाथ कहै हैं॥
विषय-चाह दव-दाह, जगत-जन अरनि दझावै।
तास उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै॥ ७॥

दवदाह=(सं०) अग्निका जलना। अरनि=(स०) वन।
दझावै=(क्रि०) जला रही है। घनघान=(सं०) मेघ-समूह।

मुनियोंके नाथ जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं कि जितने पहले मोक्ष गये, अब जाते हैं और आगे जायँगे उन सबके लिये ज्ञानका प्रभाव ही कारण जानना चाहिये। पचेन्द्रियोंके विषयों की चाह एक जलती हुई आग है। जगतके लोग वनके समान हैं। उन्हें यह आग जला रही है। ऐसी आग को ठण्डा करनेका उपाय सिवा ज्ञानरूपी मेघोंकी वर्षाके दूसरा नहीं है। अर्थात् ज्ञानके द्वारा विचार करनेसे ही विषयों की चाह दूर होती है।

पुण्य-पापमें हर्ष-विषादका निषेधः—

पुण्य-पाप फलमाहिं, हरख बिलखौ मत भाई।
यह पुद्गल परजाय, उपजि विनसै फिर थाई॥
लाख बातकी बात यहै, निश्चय उर लाओ।
तोरि सकल जग-दंदफंद, नित आतम ध्याओ॥ ८॥

बिलखौ=(क्रि०) शोक करना। थाई=(वि०) पैदा होनेवाली

हे भाई ! धनादिक पुण्य के फल हैं, उन्हें देख कर खुश मत हो, तथा रोग, वियोग आदिको पापका फल जान कर शोक मत कर। क्योंकि ये पाप-पुण्य पुद्गल रूप कर्मकी अवस्थायें हैं, जो पैदा होकर नाश हो जाती हैं और फिर पैदा होती हैं। संक्षेपमें लाख बातकी बात यही है, और तुम अपने मन में उस पर निश्चय लाओ कि जगत के सर्व दंद-फंद तोड़ कर नित्य आत्मा का ध्यान करना चाहिए। (मतलब यह है कि जितना बने ससारसे राग कम करके आत्मासे प्रीति करो। यह प्रयोजन नहीं है कि गृहस्थ रह कर ही सब काम कम करके आलसी हो जाओ; किन्तु न्याय-पूर्वक उद्यम करो। जितना समय आत्म-विचारके लिये बचा सको उतना अच्छा है।)

सम्यक्चारित्र के भेद, अहिंसा और सत्य अणुव्रत के लक्षण—

सम्यग्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित्र लीजै।
एकदेश अरु सकलदेश, तसु भेद कहीजै।
त्रसहिंसा को त्याग, वृथा थावर न सँघारै।
पर बध-कार कठोर निंद्य, नहि वयन उचारै ॥ ९ ॥

बहुरि = (सं० अ०) फिर। सँघारै = (क्रि०) नाश करे।
पर-बध-कार = (वि०) दूसरे के प्राण लेनेवाले।

सम्यग्ज्ञानी होकर फिर दृढ़तासे सम्यक्चारित्रको पालना चाहिए। इस चारित्र के दो भेद हैं—एक सकल-देश, दूसरा एक-देश। (सकल-चारित्र मुनि पालते हैं, जिसका वर्णन पाँचवी ढाल में है। यहाँ देश-चारित्रका वर्णन करते हैं, जिसे श्रावक पालते हैं। श्रावकोंके १२ व्रत होते हैं, उन्हें क्रमसे कहते हैं।)

त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग[1] कर बे-मतलब स्थावर जीवोंका भी नाश नहीं करना सो पहला अहिंसाणुव्रत है। दूसरेके प्राणनाशक, कठोर, निन्दा-योग्य जो झूठे और खोटे वचन हैं उन्हें न कहना सो दूसरा सत्याणुव्रत है

अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाण अणुव्रतोंका स्वरूप तथा दिग्व्रतका लक्षण—

जल मृतिका विन और नाहिं कछु गहै अदत्ता।
निजवनिता बिन सकल नारिसों रहे विरत्ता॥
अपनी शक्ति विचार, परिग्रह थोरो राखै।
दश दिश गमन प्रमाण ठान, तसु सीम न नाखै॥१०॥

मृतिका = (सं०) मिट्टी। अदत्ता = (वि०) बिना दिये हुए।
वनिता = (सं०) स्त्री। विरत्ता = (वि०) उदास।
प्रमाण = (सं०) गिनती। सीमा = (सं०) मर्यादा, हद।
नाखै = (वि०) तोड़े।

जल और मिट्टी के बिना दूसरी कोई चीज दूसरे की बिना दी । । । अचौर्याणुव्रत है। अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवा और स्त्रियोंसे उदास रहना सो चौथा स्वस्त्री-सन्तोष अणुव्रत है। अपनी शक्ति का ख्याल कर जन्म भरके लिये धन, धरती, मकान आदि परिग्रहका थोड़ा प्रमाण करना कि इससे अधिक न रक्खेंगे सो पाँचवाँ परिग्रह-प्रमाण-अणुव्रत है।

---

१ जब तक गृहस्थी आरम्भका त्याग न करे तब तक उसके व्यापारादिके आरम्भमें त्रस-हिंसाका सर्वथा त्याग नहीं है पर वह सब काम यत्नपूर्वक करता है।

(ये पांच अणुव्रत हुए) जन्म भरके लिये दश दिशाओं में जानेकी मर्यादाका प्रमाण करके फिर उस मर्यादाको नहीं तोड़ना सो दिग्व्रत नामक पहला गुणव्रत है।

देशव्रत का लक्षणनिर्देश—

ताहूमें फिर ग्राम, गली गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमाण, ठान अन सकल निवारा ॥

अपध्यान और पापोदेश अनर्थदण्डके लक्षण:—

काहूकी धन हानि, किसी जय हार न चिंतै।
देय न सो उपदेश, होय अघ बनज कृषीतैं ॥ ११ ॥

ग्राम=(सं०) गाव। गमनागमन=(वि०) जाने-आने का
अघ=(०) पाप। कृषि=(सं०) खेती।

जन्म-पर्यन्त की उस दश दिशाओंकी मर्यादामें भी एक दिन पाँच दिन, दस दिन, ऐसे थोड़े समयके लिये किसी गांव, किसी गली, किसी घर, किसी बाग और किसी बाजार तक जाने—आने की मर्यादा बाँधना और उसके आगे न जाना सो दूसरा देशव्रत नामक गुणव्रत है। (अब तीसरा गुणव्रत जो अनर्थदंड है उसके पाँच भेद कहते हैं।) किसीके धनका नाश हो, किसीकी जीत हो, किसी की हार हो, ऐसा विचार करना पहला अपध्यान नामक अनर्थदंड है; उसे न करना। व्यापार या खेती करनेका दूसरेको उपदेश देना जिससे पापका प्रचार हो, वह पापोपदेश नामक दूसरा अनर्थदंड है; उसे न करना।

प्रमादचर्या, हिंसादान, और दुश्रुति अनर्थदण्डोंका स्वरूप और उनके त्यागका उपदेश:—

कर प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै ।
असि धनु हल हिंसोपकरण नहिं दे यश लाधै ॥
राग-द्वेष-करतार, कथा कबहू न सुनीजै ।
औरहु अनरथदंड,-हेतु अघ तिन्हैं न कीजै ॥ १२ ॥

पावक=(सं०) अग्नि । विराधै=(क्रि०) नाश करे ।
हिंसोपकरण=(सं०) ऐसे हथियार या वस्तु जिनसे हिंसा हो; जैसे—घूसदान, बर्छा, तलवार आदि । लाधै=(क्रि०) लूटे ।

आलस करके बे-मतलब पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग जलाना या बुझाना, यह प्रमादचर्या नामक तीसरा अनर्थदंड है; उसे न करना । खड्ग, धनुष, हल या दूसरी हिंसा करनेवाली वस्तुएँ दूसरोंको देकर यश लूटना सो चौथा हिंसादान नामक अनर्थदंड है; उसे न करना । जिन कथा-कहानी किस्सोंसे मनमें राग-द्वेष हो ऐसी स्त्री, भोजन, राज, चोर-कथा कहना या सुनना सो दुश्रुति नामक पाँचवाँ अनर्थदंड है, उसे न करना । इनके सिवा और भी अनर्थ काम जिनसे व्यर्थ पाप बंध हों उन्हें नहीं करना चाहिये । (तीन गुणव्रतका स्वरूप समाप्त हुआ ।)

सामायिक प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाणव्रत और अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत—

धर उर समता भाव, सदा सामायिक करिये ।
परव चतुष्टयमाहिं, पाप तज प्रोषध धरिये ॥

भोग और उपभोग, नियमकरि ममत निवारै ।
मुनिको भोजन देय फेर निज करहि अहारै ॥ १३ ॥

परवचतुष्टय=(सं०) दो अष्टमी और दो चौदस ।
प्रोषध=(सं०) उपवास ।   ममत=(सं०) मोह ।
भोग=(सं०) जो एक बार भोगने में आवे, जैसे भोजन, फूल आदिक ।
उपभोग=(सं०) जो बार बार भोगनेमें आवे, जैसे खाट, कपड़ा, स्त्री आदिक ।

मनमें समता-भाव अर्थात् वीतराग परिणाम रख कर रोज एकान्त स्थानमें सामायिक करना सो सामायिक नामक पहला शिक्षाव्रत है । एक मासमें दो अष्टमी और दो चौदसको पाप के कुल काम, व्यापार तथा घरका सब धन्धा छोड़ उपवास करना सो प्रोषधोपवास नामक दूसरा शिक्षाव्रत है । प्रति दिन भोग और उपभोगकी वस्तुओंका नियम लेना सो भोगोपभोग परिमाण नामक तीसरा शिक्षाव्रत है । मुनिको (अथवा मध्यम पात्र श्रावक या जघन्य पात्र धर्म-श्रद्धानी जैनीको) आहार-दान करके फिर आप भोजन करना सो चौथा अतिथि-संविभाग नामक शिक्षाव्रत है । (४ शिक्षाव्रतका स्वरूप समाप्त हुआ ।)

अतिचार न लगाने का आदेश और व्रत पालन का फल—

बारह व्रतके अतीचार, पन पन न लगावै ।
मरण समै सन्यास धारि, तसु दोष नशावै ॥
यों श्रावक व्रत पाल, स्वर्ग सोलह उपजावै ।
तहँतें चय नरजन्म पाय, मुनि ह्वै शिव जावै ॥ १४ ॥

अतीचार=(सं०) दोष ।   पन=(वि०) पांच ।
सन्यास=(सं०) समाधिमरण ।

ऊपर कहे हुए बारह व्रतके पाँच पाँच अतीचार हैं, उन्हें बचाना चाहिए। (इन अतीचारोंका स्वरूप रत्नकरंडश्रावकाचार तथा दशाध्याय सूत्रसे जानना चाहिये)। तथा इन व्रतोंको जन्म-पर्यन्त पालते हुए मरणके समय समाधिमरण धारण करना उचित है। समाधिमरणके भी पाँच अतीचार हैं। उन्हें भी बचाना चाहिये। इस तरह जो श्रावक व्रतोंको पालते हैं वे १६ स्वर्गोंमें जाकर देव होते हैं और फिर वे वहांसे मनुष्य-जन्म पाकर मुनि हो, मोक्ष जाते हैं।

चौथी ढालका भावार्थ

इसमें पहले व्यवहार सम्यग्ज्ञानका स्वरूप है। सम्यग्दर्शन होनेके पहले जो ज्ञान होता है उसे कुज्ञान कहते हैं। वही ज्ञान सम्यक्त्व होने पर सम्यग्ज्ञान कहाता है। सम्यग्ज्ञानसे ही आत्म-ज्ञान होता है: और आत्म-ज्ञानसे केवलज्ञान होता है। इसलिये सम्यग्ज्ञान सबको प्राप्त करना चाहिए। और उसका उपाय जैन शास्त्रोंका अभ्यास करना, पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना, तथा बार बार विचार करना है। ज्ञान होनेसे थोड़ीसी मेहनतमें भव-भवके पाप कटते हैं; जो पाप अज्ञानीके करोड़ों जन्ममें भी नहीं कटते। इसलिये हर-एक स्त्री और पुरुषको विद्या पढ़कर ज्ञान प्राप्त करना उचित है। सम्यग्ज्ञानके बाद श्रावकके एक-देश व्यवहार सम्यक्चारित्रका स्वरूप कहा है। श्रावक-गृहस्थीका चारित्र बारह व्रत-रूप है। उसे उत्तम नर-भव पाकर जरूर पालना चाहिये। इन व्रतोंके पालन करने वाले स्वर्गमें देव होते हैं और फिर मनुष्य-भव पाकर [illegible] जाते हैं।

पांचवीं ढाल

छन्द चाल

भावनाओंके चिन्तवनका कारण अधिकारी और लाभ—

मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनतैं वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिंतैं अनुप्रेक्षा भाई ॥ १ ॥

सकलव्रती=(वि०) पूर्ण पंच महाव्रतधारी। बड़भागी=(वि०) पुण्यवान
उपावन=(क्रि०) पैदा करने को। अनुप्रेक्षा=(सं०) बारह भावना।

हे भाई ! जो पुण्यवान अहिंसा आदि पांच महाव्रत धारण कर सार और भोगोंसे उदास होकर मुनि होते हैं वे वैराग्यको पैदा करने लिये माताके समान बारह भावनाओंका बारबार विचार करते हैं।

भावनाओंका फल—

इन चिन्तत सम सुख जागै, जिमि ज्वलन पवनके लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै ॥ २ ॥

जागै=(क्रि०) प्रकाशित होता है। जिमि=(अव्यय) जैसे।
ज्वलन=(सं०) अग्नि। ठानै=(क्रि०) प्राप्त करता है।

इन बारह भावनाओंके चिन्तन-करनेसे समता-रूपी सुख प्रकाशमान होता है; जैसे वायुके लगनेसे अग्नि प्रकाशित होती है। जब यह जीव आत्माको जानता है तब मोक्ष-सुखको प्राप्त करता है।

अनित्यभावनाका लक्षणः—

जोवन गृह गो धन नारी, हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रीय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥ ३ ॥

हय=(सं०) घोड़ा। गय=(सं०) हाथी।
सुरधनु=(सं०) इन्द्रधनुष जो बरसातमें निकलता है। चपला=(सं०) बिजली।
चपलाई=(वि०) चञ्चलता।

यौवन, घर, गौ, धन, स्त्री, घोड़ा, हाथी, अपनी आज्ञा मानने वाले नौकर, तथा इन्द्रियोंके भोग, ये सब क्षणिक हैं; कोई सदा अपने पास रहनेवाले नहीं हैं। जैसे इन्द्र-धनुष देखते देखते नष्ट हो जाता है और बिजली झटसे चमक कर नष्ट हो जाती है, वैसे ही धन आदिका संयोग है; पुण्य क्षीण होनेसे सब चला जाता है। यह पहली अनित्य भावना है।

अशरणभावनाका लक्षणः—

सुर असुर खगाधिप जेते, मृग ज्यों हरि, काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ॥ ४ ॥

खगाधिप=(सं०) विद्याधरोंके ईश चक्रवर्ती।
हरि=(सं०) सिंह। दले=(क्रि०) नष्ट कर देता है।

जैसे सिंह हिरणको मार डालता है उसी तरह काल देव, असुर, चक्रवर्ती अथवा चाहे कोई भी क्यों न हो, सबको नाश कर डालता है। मणि, मन्त्र, तंत्र आदि कितने ही उपाय क्यों न किये जांय, परन्तु कोई मरणसे बचा नहीं सकता। यह दूसरी अशरणभावना है।

संसारभावनाका लक्षणः—

चहुँगति-दुख जीव भरै है, परिवर्तन पंच करै है।
सब विधि संसार असारा, तामें सुख नाहिं लगारा ॥ ५ ॥

भरै है=(क्रि०) सहते है। लगारा=(वि०) थोड़ासा भी।
असारा=(वि०) जिसमें कुछ सार नहीं है।

जीव (कर्मोंके उदयसे) चारों गतियोंमें दुःख सहन करते हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव—ऐसे पाँच परिवर्तन किया करते हैं। संसार सब तरहसे असार है, इसमें थोड़ासा भी सुख नहीं है। यह तीसरी संसार-भावना है।

एकत्वभावनाका लक्षणः—

शुभ अशुभ करम फल जेते, भोगै जिय एकहि तेते।
सुत दारा होय न सीरी, सब स्वारथके हैं भीरी ॥ ६ ॥

एकहि=(वि०) अकेला। दारा=(सं०) स्त्री।
सीरी=(वि०) साझी, साथी। भीरी=भीड़ करने वाले, सगे।

अपने पुण्य और पापकर्मोंके अच्छे बुरे फल हैं उन्हें यह जीव अकेला ही भोगता है। पुत्र, स्त्री आदि कोई भी दुःख-सुखके साथी नहीं होते हैं। अर्थात् पुत्र, स्त्री आदि सब अपने अपने मतलबके सगे हैं। यह चौथी एकत्व-भावना है।

अन्यत्वभावनाका लक्षणः—

जल—पय ज्यौं जिय—तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
तो प्रगट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ॥ ७ ॥

पय=(सं०) दूध । मेला=(वि०) मिलाप । मेला=(वि०) मिला हुआ ।
[illegible] सं०) जगह, स्थान । गमा=(सं०) [illegible] ।

जल और दूधकी तरह शरीर और जीवका मेल हो रहा है; परन्तु हैं दोनों अलग अलग; एक नहीं हैं । जब ये अनादि कालसे मिले हुए होकर भी अलग अलग हैं; तब धन, मकान, पुत्र, स्त्री आदि जो सर्वथा ही अपनेसे पृथक हैं, अपने कैसे होंगे ? यह पांचवी अन्यत्व-भावना है ।

अशुचिभावनाका लक्षण:—

पल रुधिर राध मल थैली, कीकस वसादितें मैली ।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करै किम यारी ॥ ८ ॥

पल=(सं०) मांस । रुधिर=(सं०) खून । राध=(सं०) पीप ।
कीकस=(सं०) हाड़ । वसा=(सं०) चरबी । यारी=(सं०) प्रीति ।
नव द्वार=(सं०) शरीरसे मैल बाहर आनेके नौ रास्ते हैं—दो आंख, दो कान, दो नाकके छिद्र, एक मुख, दो नीचेके गुह्यस्थान ।

यह देह मांस, खून, पीप और विष्टाकी थैली अर्थात् कोथली है; हाड़, चरबी आदि अपवित्र वस्तुओंके कारण मलीन हैं; जिस देहके नव रास्तोंसे चित्तको घृणा उत्पन्न करनेवाला मैल बहा करता है उस मैली देहसे कैसे प्रीति करनी चाहिए ? अर्थात् नहीं करनी चाहिए । यह छठी अशुचि भावना है ।

आस्रवभावनाका लक्षण—

जो योगनकी चपलाई, तातैं ह्वै आस्रव भाई ।
आस्रव दुखकार घनेरे, बुधिवंत तिन्हैं निरवेरे ॥ ९ ॥

बुधिवन्त=(सं०) बुद्धिमान्, विचारवान्।   निरवेरे=(क्रि०) दूर करे।

हे भाई! मन-वचन-कायकी चंचलपनसे कर्मोंका आस्रव होता है। यह कर्मोंका आस्रव बहुत ही दुखदाई है। विचारवान् पुरुष इन आस्रवोंको दूर करनेकी कोशिश करते हैं। यह सातवीं आस्रव-भावना है।

संवरभावनाका लक्षण:—

जिन पुण्य पाप नहिं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके ॥ १० ॥

जिन जीवोंने अपने भावोंको पुण्य और पाप-रूप न होने देकर आत्म-विचारमें अपने मनको लगाया उन्होंने ही आते हुए कर्मोंको रोका और संवरकी प्राप्ति कर सुख प्राप्त किया। यह आठवीं संवर-भावना है।

निर्जराभावनाका लक्षण:—

निज काल पाय विधि झरना, तासों निजकाज न सरना।
तपकरि जो कर्म खपावै, सोई शिवसुख दरसावै ॥ ११ ॥

झरना=(क्रि०) होना।   खपावे=(क्रि०) दूर करता है।

अपना काल पाकर जो कर्म झड़ जाते हैं उससे अपना काम नहीं होनेका है। किन्तु तप करके जो कर्मोंको उनकी स्थिति पूरी होनेके पहले ही नष्ट करता है, वही अपनेमें मोक्ष-सुख दिखलाता है। यह नवमी निर्जरा-भावना है।

लोकभावनाका लक्षण:—

किनहू न करौ न धरै को, षट्द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोकमांहि बिन समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता ॥१२॥

धरै=(क्रि०) धारण किया। हरे=(क्रि०) नाश करना।

इस लोकको न किसीने बनाया है और न कोई इसे धारण किये हुए है। किन्तु यह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ऐसे छह द्रव्योंसे भरा हुआ है। कोई कभी इसका नाश नहीं कर सकता। (इस लोकके चारों तरफ तीन प्रकारकी वायु है, जो इसे थामे हुए है।) ऐसे लोकके भीतर यह जीव बिना समता अर्थात् वीतरागताके नित्य घूमा करता है। यह दसवीं लोक-भावना है।

बोधदुर्लभभावनाका लक्षण:—

अंतिम ग्रीवकलौंकी हद, पायो अनंत विरियां पद।
पर सम्यक्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निजमें मुनि साधौ ॥१३॥

विरियां=(क्रि० वि०) बार, दफा। लाधौ=(क्रि०) प्राप्त किया।
दुर्लभ=(वि०) कठिन।

इस जीवने नौग्रीवक तक जा-जा कर अनन्त बार वहांका अहमिन्द्र-पद पाया, परन्तु सम्यग्ज्ञान इसे प्राप्त न हुआ। ऐसे कठिन सम्यग्ज्ञानको मुनियोंने आत्मामें साधन किया है। यह ग्यारहवीं बोध-दुर्लभ भावना है।

धर्म भावनाका लक्षण:—

जो भाव मोहतैं न्यारे, दृग ज्ञान व्रतादिक सारे।
सो धर्म जबै जिय धारै, तब ही सुख अचल निहारै ॥ १४ ॥

दृग=(सं०) सम्यग्दर्शन। अचल=(वि०) जो चंचल न हो, थिर।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदिक जितने भाव हैं वे सब मोहभावसे जुदे हैं और ये भाव धर्म-रूप हैं। इस धर्मको जब

जीव धारण करता है तब ही वह स्थिर सुखको प्राप्त करता है। यह बारहवीं धर्म-भावना है।

मुनिधर्मको सुननेकी प्रेरणा:—

सो धर्म मुनिनकरि धरिये, तिनकी करतूति उचरिये।
ताकों सुनिये भवि प्रानी, अपनी अनुभूति पिछानी॥ १५॥

करतूता=(स०) क्रियायें। उचारये=(क्रि०) कहते हैं।
अनुभूति=(स०) अनुभव, हृदयका विचार।

ऐसा जो धर्म है उसका (सम्पूर्णपने) मुनि पालते हैं। मुनियोंकी क्रिया आगे कहा जाता है। सो हे भव्य! उन्हें सुनकर अपने अनुभवकी पहचान करो।

पांचवीं ढालका भावार्थ

इसमें बारह भावनाओंका स्वरूप थोड़ेमें कहा गया है। इनका विशेष स्वरूप स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा या ज्ञानार्णवमें देखकर समझना चाहिये। मुनि तो रोज इनका विचार करते ही हैं; परन्तु श्रावकोंको भी इनके चिंतन द्वारा अपने मनको कोमल करना चाहिए। इन भावनाओंके विचारसे धर्ममें विशेष प्रीति होती है।

छठी ढाल

हरिगीता-छन्द

अहिंसा, सत्य, अचौर्य तथा ब्रह्मचर्य महाव्रतोंका लक्षण—

षट्काय जीव न हननतैं, सब विधि दरबहिंसा टरी।
रागादि भाव निवारतैं, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं॥
अठदशसहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्ममें नित रमि रहैं॥१॥

षट्काय=(सं०) छहकायके जीव-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु वनस्पति और त्रस। मृषा=(सं०) झूठ।
हनन=(क्रि०) मारना। मृण=(सं०) मिट्टी।
अवतरी=(क्रि०) आई सहस=(सं०) हजार।
चिद्ब्रह्म=(सं०) चैतन्य-रूप आत्मा।

मुनिराज छह कायके जीवों को नहीं मारते, किंतु उनकी रक्षा करते हैं, इसलिये वे द्रव्यहिंसा नहीं करते। और राग, द्वेष, मोह आदि भावोंको उन्होंने नष्ट कर दिया है, इसलिये भावहिंसा भी वे नहीं करते। यह अहिंसा-महाव्रत है। वे कभी थोड़ासा भी झूठ नहीं बोलते, यह सत्य-महाव्रत है। वे बिना दिया जल तथा मिट्टी तक भी नहीं छूते, यह अचौर्य-महाव्रत है। वे अठारह हजार शीलके भेदोंका पालन कर स्त्रीमात्रके त्यागी होते हैं और निरन्तर अपने आत्माका अनुभव किया करते हैं यह ब्रह्मचर्य—महाव्रत है।

परित्याग महाव्रत, ईर्या-और भाषा समिति—

अन्तर चतुदस भेद बाहर, संग दसधा तैं टलैं।
परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलैं ॥
जग सुहितकर सब अहितहर श्रुति, सुखद सब संशय हरैं।
भ्रमरोग-हर जिनके वचन मुख,-चन्द्रतैं अमृत झरैं ॥ २ ॥

धा = (वि०) तरह। चौ = (वि०) चार। कर = • हा
मही = (स०) जमीन पृथ्वी। श्रुति = (स०) कान।
सुखद = (वि०) सुखदाई। संशय = (स०) शंका, शक।
भ्रमरोगहर = (वि०) मिथ्यात्वरूपी रोगके हरनेवाले।

वे चौदह प्रकार अन्तरंग और दस प्रकार बहिरंग परिग्रह रहित हैं, यह पाँचवां परिग्रहत्याग-महाव्रत है। जो मुनि आलस्य छोड़ कर और चार हाथ जमीन देख कर चलते हैं, यह पहली ईर्या-समिति है। जिनके मुखरूपी चन्द्रमासे संसारका उपकार करनेवाले, सब तरहकी बुराइयोंको नष्ट करने वाले, कानोंको सुखकारी, सब प्रकारका सन्देह दूर करनेवाले, और मिथ्यात्व-रूपी रोगके नाशक अमृतके जैसे वचन निकलते हैं यह दूसरी भाषा-समिति है।

एषणा, आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति.—

छ्यालीस दोष विना सुकुल, श्रावकतनैं घर अशनको।
लैं, तप बढ़ावन हेत, नहिं तन–, पोषते, तजि रसनको ॥
शुचि ज्ञान संजम उपकरण, लखिकैं गहैं लखिकैं धरैं।
निर्जन्तु थान–विलोक तन–, मल मूत्र श्लेष्म परिहरैं ॥ ३ ॥

अशन =(सं०) भोजन	रस=(सं०) छह रस–दूध, दही, घी
शुचि=(वि०) पवित्र।	तेल, मीठा, नमक।
ज्ञान-उपकरण=(वि०) ज्ञानका	निर्जन्तु= (वि०) जीव रहित।
पात्र-शास्त्र।	श्लेषम= (सं०) नाक, थूक।
संयम-उपकरण=(सं०) संयमका	परिहरैं=(क्रि०) छोड़ते हैं।
पात्र-पीछी, कमण्डलु।	

जो मुनि छयालीस दोषोंको टालकर कुलीन श्रावकके घर केवल तपवृद्धिके अभिप्रायसे आहार करते हैं, शरीरको पुष्ट करनेका जिनका मतलब नहीं है, यह तीसरी एषणा समिति है। जो पवित्र शास्त्र और पीछी कमण्डलु आदि उपकरणोंको देख कर उठाते और देख कर धरते हैं, यह चौथी आदाननिक्षेपण-समिति है। जो जीव-रहित जगह देख कर मल, मूत्र आदि छोड़ते हैं, यह पांचवीं व्युत्सर्ग-समिति है।

तीन गुप्तियां और पंचेन्द्रिय विजयः—

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय आतम ध्यावते।
तिन सुथिरमुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते॥
रस रूप गंध तथा फरस अरु शब्द शुभ असुहावने।
तिनमें न राग विरोध पंचेन्द्रिय जयन पद पावने॥ ४॥

सम्यक्=(क्रि० वि०) भला।	मुद्रा=(सं०) रूप, मूर्ति
निरोध=(क्रि०) रोक कर।	मृगगण=(सं०) हिरणके समूह।
सुथिर=(वि०) एकाग्र,	उपल=(सं०) पत्थर।
ध्यानमें लीन।	विरोध=(सं०) द्वेष।

जब मुनिराज भले प्रकार मन, वचन, और कायको रोककर अपने आत्माका ध्यान करते हैं, उस समय हिरण उन्हें ध्यानमें लीन देख

कर और यह समझ कर कि यह पत्थरकी मूर्ति है, उनको देहसे अपने शरीरकी खाज खुजाया करते हैं । ये मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति, ऐसी तीन गुप्तियाँ कहलाती हैं । जो पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें-फरस अर्थात् छूने, रस अर्थात् स्वाद लेने, रूप अर्थात् देखने, गंध अर्थात् सूंघने, और शब्द अर्थात् सुननेमें, वे चाहे सुहावने हों अथवा असुहावने हों राग-द्वेष नहीं करते, वे पंचेन्द्रिय-जयी अर्थात् जितेन्द्रिय पदको पाते हैं ।

मुनियोंके ६ आवश्यक और शेष ७ गुण —

समता सम्हारैं थुति उचारैं, वंदना जिनदेवको
नित करैं श्रुतिरति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेवको ॥
जिनके न न्हौन न दंतधोवन, लेश अंबर आवरन ।
भूमाहि पिछली रयनिमें कछु, शयन एकासन करन ॥५॥

समता=(स०) सामायिक ।
सम्हारैं=(क्रि०) सँभाल करैं ।
थुति=(स०) स्तुति, गुणगान ।
तजैं तन अहमेव=(स०) शरीरकोही आत्मा मानना, ऐसा न करके कायोत्सर्ग करना ।
शयन=(स०) नींद लेना ।
श्रुतिरति=(स०) स्वाध्याय ।
प्रतिक्रम=(स०) पिछले किये दोषों पर पछताना और दंड लेना ।
अम्बर-आवरन=(क्रि०) कपड़ा पहनना ।
रयनि=(स०) रात ।
एकासन=(स०) एक करवट ।

जो मुनि सामायिक करते हैं, भगवानकी स्तुति करते हैं, जिनदेवकी वन्दना करते हैं, स्वाध्याय करते हैं, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग करते हैं । (ऐसे छह आवश्यक नित्य करते हैं) जो स्नान नहीं करते,

दाँत नहीं धोते, जरासा भी कपड़ा नहीं पहनते, ज़मीनपर पिछली रातको एक ही करवट थोड़ी नींद लेते हैं; तथा:—

मुनियोंकेशेष गुण तथा राग द्वेषका अभाव —

इक बार दिनमें लैं अहार, खड़े अलप निज-पानमें ।
कचलोंच करत न डरत परिषह,-सौं लगे निज-ध्यानमें ॥
अरि मित्र महल ममान कंचन, काच निंदन थुतिकरन ।
अर्घावतारन असि-प्रहारन,-में सदा ममताधरन ॥ ६ ॥

पान=(सं०) हाथ । परिषह=(सं०) दुःख ।
कच=(सं०) बाल । अरि=(सं०) शत्रु ।
लोंच=(सं०) नोचना । अर्घावतारन=(सं०) अर्घ उतारना ।
असि-प्रहारन=(सं०) तलवारसे मारना ।

जो दिनमें एक बार थोड़ासा आहार लेते हैं, वह भी खड़े होकर और अपने हाथहीका पात्र बना कर, जो अपने हाथोंसे बालोंका लोंच करते हैं, और जो परिषह आदिसे न डर कर अपने आत्म ध्यानमें लीन रहते हैं। वे साधुओंके २८ मूलगुण हैं, जो साधुओंमें होने ही चाहिये। जैसे ५ महाव्रत, + ५ समिति, + ५ इन्द्रिय-जय, + ६ आवश्यक, + १ न नहाना, + १ दाँत न धोना, + १ नग्न रहना, + १ जमीन पर सोना, + १ बार भोजन करना, + १ हाथोंसे खड़े हुए भोजन लेना, + १ अपने बालों का लोंच करना=२८, और जिनके लिये शत्रु और मित्र, महल और मसान, सोना और काच, निन्दा और स्तुति, तथा पूजन करना या तलवारसे मारना, ये सब समान हैं। हर एक-अवस्थामें जो सदा शान्त चित्त रहा करते हैं ।

मुनियोंका तप-धर्म विहार तथा स्वरूपाचरण चारित्रः—

तप तपैं द्वादश धरैं वृष दश, रतनत्रय सेवैं सदा ।
मुनि साथमें वा एक विचरैं, चहैं नहिं भवसुख कदा ॥
यों है सकल संयमचरित, सुनिये स्वरूपाचरन अब ।
जिस होत प्रगटै आपनी निधि, मिटै परकी प्रवृति सब ॥७॥

द्वादश तप=(सं०) बारह तप। जैसे १—अनशन (उपवास करना) २—ऊनोदर (भूखसे कम खाना), ३—व्रतपरिसंख्यान (भोजनके लिये जाते समय घर आदिका नियम करना), ४—रसपरित्याग (छह या एक दो रस छोड़ना), ५—विविक्तशय्यासन (अलग स्थानमें सोना, बैठना), ६—कायक्लेश शरीरको कष्टदेकर नदी किनारे आदि स्थानमें तप करना)—ये छह बाह्य-तप हैं। १—प्रायश्चित्त (दोषोंका दंड लेना), २—विनय (रत्नत्रय या उसके धारकोंका विनय करना), ३—वैयावृत्य (रोगी या वृद्ध मुनिकी सेवा करना), ४—स्वाध्याय (शास्त्र पढ़ना), ५—कायोत्सर्ग (खड़े होकर योग साधना) ६—ध्यान (धर्म या शुक्लध्यानका चिन्तन करना),—ये छह अन्तरंग तप हैं। ऐसे १२ तप हुए।

दस वृष=(सं०) दस धर्म। जैसे १—उत्तम क्षमा (क्रोध न करना), २—उत्तम मार्दव (मान न करना), ३—उत्तम आर्जव (कपट न करना) ४—उत्तम सत्य (सत्य बोलना), ५—उत्तम शौच (लोभ न करना), ६—उत्तम संयम (नियम-आखड़ी लेना), ७—उत्तम तप (तपश्चर्या करना), ८—उत्तम त्याग (दान करना), ९—उत्तम आकिंचन (संसारमें अपना कुछ न समझ परिग्रहका त्याग करना), १०—उत्तम ब्रह्मचर्य (स्त्री मात्रका त्याग करना)।

रत्नत्रय=(सं०) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र।

स्वरूपाचरन=(सं०) निश्चय आत्मलीन चारित्र (ज्ञानादि)।

विचरै = (क्रि०) विहार करैं। निधि = (स०) दौलत।
प्रवृत्ति = (सं०) चलना।

जो मुनिराज बारह प्रकार तप और दशलक्षण-धर्म धारण करते हैं, जो सदा रत्नत्रयका पालन करते हैं, जो कभी दूसरे मुनिके साथमें या कभी अकेले बिहार करते हैं और संसारके सुखको कभी नहीं चाहते हैं। इस प्रकार मुनिका सकल-चारित्र वर्णन किया। अब निश्चय-चारित्र-आत्म-चारित्रको कहते हैं, जिससे अपने आत्माकी ज्ञानादि सम्पत्ति प्रगट होती है और परवस्तुमें सब प्रकारकी प्रवृत्ति मिटती है।

स्वरूपाचरण-चारित्र—

जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डारि अंतर भेदिया।
वरणादि अरु रागादितैं, निज भावको न्यारा किया॥
निजमाहि निजके हेतु निजकर, आपको आपै गह्यौ।
गुण गुणी ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, मझार कछु भेद न रह्यौ॥८॥

पैनी=(वि०) तेज काटनेवाली। वरणादि =(स०) पुद्गलके वर्ण आदि बीस गुण
सुबुधि =(स०) भेद-ज्ञान, दो मिली हुई चीजोंको अलग करनेका ज्ञान।
छैनी = (सं०) छेनी। गुणी =(स०) जिसके भीतर गुण हो।
भेदिया =(क्रि०) तोड़कर। ज्ञाता = (सं०) जाननेवाला आत्मा।
न्यारा = (वि०) जुदा, अलग। ज्ञान = (स०) जिससे जाने।
मझार = (सं० अ०) भीतर। ज्ञेय = (स०) जिसको जाने, पदार्थ।

जब मुनि स्वरूपाचरणके समय भेदज्ञान-रूपी बहुत तेज छेनीसे अपने अंतरंगका परदा तोड़ कर और शरीरके वर्ण आदि बीस गुणों

और राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि भावोंसे अपने आत्मिक भावको जुदा कर अपने आत्मामें, अपने आत्म-हितके लिए, अपने आत्माके द्वारा, अपने आत्माको आप ही ग्रहण करते हैं, तब गुण, गुणी, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके भीतर कुछ भेद नहीं रह जाता है। अर्थात् ध्यानमग्न अवस्थामें सब एक हो जाते हैं; विकल्प मिट जाते हैं।

स्वरूपाचरण-चारित्र —

जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको, न विकल्प वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म चिदेश करता, चेतना किरिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोगकी निश्चल दसा।
प्रगटी जहां दग-ज्ञान-व्रत ये, तीनधा एकै लसा॥९॥

ध्याता= (सं०) ध्यान करनेवाला। चिद्भाव=(सं०) आत्मिक भाव।
ध्येय=(सं०) जिसका ध्यान किया जाय। विकल्प=(सं०) भेद।
चिदेश= (सं०) आत्मा। अभिन्न=(वि०) एक दूसरेसे जुदा नहीं।
अखिन्न= (वि०) एक दूसरेसे न टूटनेवाले उपयोग=(सं०) भाव।

जिस आत्म-ध्यानकी अवस्थामें न ध्यानका, न ध्याताका और न ध्येयका कोई भेद है, और न वचनसे कहने लायक ही इनमें भेद है. उसमें तो चेतना-भाव ही कर्म, चेतन ही कर्त्ता और चेतना ही किया है। यहां कर्त्ता-कर्म-क्रिया-भाव बिलकुल जुदा नहीं हैं और न एक दूसरेसे टूटने लायक ही है। यहाँ तो शुद्ध-भावकी स्थिर अवस्था है, जिसमें दर्शन, ज्ञान चारित्र भी एक रूप होकर प्रकाशमान हो रहे हैं।

स्वरूपाचरणचारित्र और निर्विकल्पध्यानः—

परमाण नय निक्षेपको, न उद्योत अनुभवमें दिखै।
दृग-ज्ञान-सुख-बल-मय सदा, नहि आन भाव जु मो विखै॥
मैं साध्य साधक मैं अबाधक, कर्म अरु तसु फलनितैं।
चितपिंड चंड अखंड सुगुण-करंड च्युत पुनि कलनितैं॥१०॥

परमाण=(सं०) प्रत्यक्ष-परोक्ष-प्रमाण। नय=(सं०) नैगमादि नय
निक्षेप=(सं०) नाम, स्थापना, द्रव्य भाव। चंड=(वि०) तेजस्वी।
साध्य=(सं०) जिसकी सिद्धिकी जाय। अबाधक=(सं०) बाधा रहित।
साधक=(सं०) सिद्धि करनेवाला। उद्योत=(सं०) प्रकाश।
करंड=(सं०) पिटारा। कलनि=(सं०) पाप।

जिस ध्यान-अवस्थामें प्रमाण, नय, निक्षेपका प्रकाश अनुभवमें नहीं आता, किन्तु उस समय आत्मा विचारता है कि मैं दर्शन ज्ञान-सुख-वीर्यरूप हूँ, मुझमें दूसरा कोई भाव नहीं है। मैं ही साध्य हूँ, और मैं ही साधक हूँ, तथा कर्म और उनके फलसे रहित भी मैं ही हूँ। मैं चैतन्यका पिंड अर्थात् समूह हूँ और मैं ही प्रचंड खंड रहित उत्तम गुणोंका पिटारा तथा सर्व पापोंसे अलग हूँ।

स्वरूपाचरणचारित्रका महत्व और अरहंत अवस्थाः—

यों चिन्त्य निजमें थिर भये, तिन अकथ जो आनँद लह्यौ।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमिन्द्रकै नाहीं कह्यौ॥
तब ही शुकलध्यानाग्नि करि, चउ घाति विधि कानन दह्यौ।
सब लख्यो केवलज्ञानकरि, भविलोककों शिवमग कह्यौ॥११॥

कानन=(सं०) वन। अकथ=(वि०) जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार विचार कर मुनिराज जब आत्म-ध्यानमें लीन हो जाते हैं तब उन्हें जो अकथनीय आनन्द—जो सुख प्राप्त होता है वह आनन्द—वह सुख न इन्द्रको मिलता है, न नागेन्द्रको मिलता है, न चक्रवर्तीको मिलता है और न अहमिन्द्रको मिलता है। उस समय वे शुक्लध्यान-रूपी अग्निके द्वारा चार घातिया कर्म-रूपी वनको भस्म कर केवलज्ञानको प्राप्त करते हैं और उसके द्वारा तीनों कालकी बातोंको (हाथमें रखे हुए आँवलेकी भाँति) जान कर भव्य पुरुषोंको मोक्ष-मार्गका उपदेश करते हैं। वह उनकी अरहंत अवस्था कहलाती है।

सिद्ध अवस्था—

पुनि घाति शेष अघातिविधि, छिनमाहिं अष्टम-भू बसैं।
वसु कर्म विनसैं सुगुण वसु, सम्यक्त आदिक सब लसैं॥
संसार खार अपार पारावार तरि तीरहिं गये।
अविकार अकल अरूप शुचि, चिद्रूप अविनाशी भये॥ १२॥

शेष=(वि०) बाकी। अष्टम-भू=(सं०) मोक्ष।
पारावार=(सं०) समुद्र। अविकार=(वि०) दोष रहित।
लसैं=(क्रि०) शोभते हुए।

इसके बाद वे आयु, नाम, गोत्र और वेदनी, इन चार अघातिया कर्मोंका भी क्षण-भरमें नाश कर मोक्ष चले जाते हैं। आठ कर्मोंका नाश होने से उनमें सम्यक्त आदि आठ गुण प्रगट हो जाते हैं। जैसे मोहके नाशसे सम्यक्, ज्ञानावरणीके नाशसे ज्ञान, दर्शनावरणीके नाशसे दर्शन, अंतरायके नाशसे वीर्य, आयुके

नाशसे अवगाहना, नामके नाशसे सूक्ष्मत्व, गोत्रके नाशसे अगुरु-लघु और वेदनीके नाशसे अव्याबाध। वे संसार रूपी समुद्रको तिर कर और उसके पार पहुँच कर विकार, शरीर और मूर्ति-रहित हो शुद्ध चैतन्य-मय अविनाशी सिद्ध हो जाते हैं।

मोक्षपर्यायका वर्णन—

निजमाहि लोक अलोक गुण, परजाय प्रतिबिम्बत थये।
रहिहैं अनन्तानन्त काल, यथा तथा शिव परणये॥
धनि धन्य हैं जे जीव नरभव, पाय यह कारज किया।
तिनही अनादी भ्रमण पंच प्रकार तजि वर सुख लिया। ॥१३॥

प्रतिबिम्बित भये =(क्रि०) झलकते हैं। रहि हैं =(क्रि०) रहेंगे।
परणये =(क्रि०) रहते हैं। वर =(वि०) उत्तम।

सिद्ध भगवानकी आत्मामें तीन लोक और अलोक अपने गुण-पर्याय-सहित ऐसे झलकते हैं जैसे दर्पण में पदार्थ झलकते हैं। मोक्षमें जैसे और सिद्ध हैं वैसे ये भी अनन्तानन्त काल तक रहेंगे। वे जीव धन्य हैं जिन्होंने मनुष्य-भव पाकर ऐसा काम किया। ऐसे ही जीवोंने अनादिकालसे चले आये पंच-परावर्तनरूप संसारका त्यागकर उत्तम सुखकी प्राप्ति की है।

रत्नत्रयका फल और आत्महितमें प्रवृत्तिका उपदेश—

मुख्योपचार दुभेद यों बड़,-भागि रत्नत्रय धरैं।
अरु धरैंगे ते शिव लहैं तिन, सुयश-जल जगमल हरैं॥
इमि जानि आलस हानि साहस, ठानि यह सिख आदरौ।

जबलौं न रोग जरा गहै तब, लौं झटिति निजहित करौ ॥१४॥

मुख्योपचार = (म०) निश्चय, व्यवहार । बड़भागि = पुण्यवान् ।

जो पुण्यवान् जीव निश्चय, व्यवहार, ऐसे दो भेद-रूप रत्नत्रय को धारण करते हैं और धारण करेंगे वह मोक्षको प्राप्त करेंगे, तथा उनका सुयश-रूपी जल संसारके मैलको हरेगा। यह जान कर आलस-रहित होओ, और साहस-पूर्वक यह उपदेश ग्रहण करो कि जब तक रोग और बुढ़ापा नहीं आवे तब तक जल्दीसे अपना भला कर डालो।

अन्तिम शिक्षा और आत्म कर्तव्य—

यह राग आग दहै सदा, तातैं समामृत सेइये ।
चिर भजे विषय कषाय अब तो, त्याग निजपद बेइये ॥
कहा रच्यो पर पदमें न तेरो, पद यहै क्यों दुख सहै ।
अब दौल ! होउ सुखी स्वपद रचि, दाव मत चूकौ यहै ॥ १५ ॥

समामृत = (स०) समता-रूपी अमृत । चिर = (क्रि० वि०) सदासे
स्वपद = (स०) अपना सिद्ध पद । दाव = (सं०) अवसर, समय ।

संसारमें रागरूपी आग सदासे जल रही है (जिससे जीव दुखी हो रहे हैं), इसलिये समता-रूपी अमृत पीना चाहिये सदासे विषय कषायों को सेवन किया । अब इन्हें छोड़ कर अपना (सिद्ध) पद प्राप्त करना चाहिये। तू पर-वस्तुमें, क्यों लुभा रहा है, यह तेरा पद नहीं है, क्यों दुख सहता है हे दौलतराम। अब तू अपने आत्म-पद में मन लगा, इस अवसरको मत खो ।

छठी ढालका भावार्थ

इसमें मुनिका तेरह प्रकारका चारित्र (५ महाव्रत +५ समिति+३ गुप्ति) तथा उनके अट्ठाईस मूलगुण कहे हैं। पश्चात् निश्चय चारित्रका वर्णन करते हुए शुद्धोपयोग अवस्था दिखलाई है, जहाँ ध्याता, ध्यान, ध्येयका भेद नहीं रहता। ऐसे निश्चल ध्यानके बलसे आत्मा आठवें गुणस्थानमें चढ़कर शुक्लध्यानका ध्याता है। फिर बारहवें गुणस्थानमें पहुँच कर शुक्लध्यानसे चार घातिया कर्मोंका नाश कर डालता है और केवलज्ञान प्राप्त कर भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका उपदेश करता है। फिर शेष चार अघातिया कर्मोंका भी नाश कर, सर्व कर्म और शरीरसे छूटकर और तीन लोकके ऊपर सिद्धलोकमें पहुँच कर सिद्ध कहलाता है। सिद्ध-जीव फिर वहां अनन्तकाल तक सुख भोगते रहते हैं-संसारके आवागमनसे छूट जाते हैं। इस आनन्द-मय सिद्ध अवस्थाके पानेका कारण निश्चय और व्यवहार ऐसे दो दो भेद-रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। भव्य-जीवोंको आलस्य छोड़कर इन्हें ग्रहण करना चाहिये। जिन विषय कषायोंका हमेशासे सेवन किया उनसे मन हटाकर मोक्ष-सुख पानेका उद्यम मनुष्य-भवके सिवा दूसरे भवमें नहीं हो सकता। और मनुष्य-भवका पाना बड़ा ही कठिन है; वह वृथा खोनेसे फिर इसका मिलना बहुतही दुर्लभ है। इसलिये अभी जो मौका मिला है उसे कभी नहीं चूकना चाहिये।

ग्रन्थ निर्माणका समय तथा आधारः—

(दोहा)

इक नव वसु इक वर्षकी, तीज सुकुल बैसाख।
करयो तत्त्व उपदेश यह, लखि बुधजनकी भाख ॥ १ ॥

लघु धी तथा प्रमादतैं शब्द अर्थकी भूल
सुधी सुधार पढ़ो सदा, जो पावौ भव-कूल ॥ २ ॥

धी=(सं०) बुद्धि । सुधि=(सं०) बुद्धिमान् । कूल=(सं०) किनारा ।

पंडित दौलतरामजीने पंडित बुधजन-कृत छहढालेकी छाया लेकर यह तत्त्वोपदेश संवत् १८९१ मिती वैशाख सुदी तृतियाको पूर्ण किया । पंडितजी कहते हैं थोड़ी बुद्धि तथा प्रमादसे जो कहीं शब्द और अर्थकी इसमें भूल रह गई हो तो बुद्धिमान् उसे सुधार कर पढ़ें, जिससे उन्हें संसारके किनारेकी प्राप्ति हो अर्थात् वे संसारका नाश करनेके लिये समर्थ हों

इति कविवर पंडित दौलतरामजी-कृत छहढाला जैनधर्म-भूषण धर्मदिवाकर-
ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी कृत भाषाटीका सहित समाप्त ।

पाँच तीन अरु चार दो, वीर मार्गशिर श्वेत ।
टीका की गजपंथमें, आतम अनुभव हेत ॥

कवि बुधजन कृत

प्रथम ढाल

॥ मंगलाचरण ॥

(सोरठा)

सर्वद्रव्यमें सार, आतमको हितकार है ।
नमहुँ ताहि चित धार, नित्यनिरंजन जानके ॥

चौपई[1] छन्द

आयु घटत तेरी दिनरात, होय निचीत रह्यो क्यों भ्रात ।
जीवन-धन-तन-किंकर-नारि, सब हैं जल बुद बुद उनहारि ॥१॥
पूरे आयु बधे खिन नाहि, दिये कोटि धन तारथ माँहि ।
इन्द्र चक्र पति हू कहा करैं, आयु अन्त तैं ते हू मरैं ॥ २ ॥
यों संसार असार महान, सार आप में आपा जान ।
सुखतैं दुख दुखतैं सुख होय, समता चारों गति नहि कोय ॥३॥
अनंतकाल गति-गति दुख लह्यो, बाकी काल अनन्तो कह्यो ।
सदा अकेलो चेतन एक, तो मांही गुन बसत अनेक ॥ ४ ॥
तू न किसी का तेरा न कोय, तेरा दुख सुख तोकों होय ।

१. इस छन्द मे १५ मात्रा होती है ।

यातैं तोकों तू उरधार, परद्रव्यनितैं मोह निवार ॥ ५ ॥
हाड मांस तन लिपटी चाम, रुधिर मूत्र मल पूरित धाम ।
सो हू थिर न रहे क्षय होय, याको तजैं मिलै शिव लोय ॥६ ॥
हित अनहित तन कुलजन मांहि, खोटी बानि हरो क्यों नाहिं ।
यातैं पुद्‌गल कर्म नियोग, प्रणवै दायक सुख-दुख-रोग ॥ ७ ॥
पांचों इन्द्रीकै तज फैल, चित्त निरोध लागि शिवगैल ।
तो मैं तेरी तूं कर सैल, रहयौ कहा ह्वै कोल्हू बैल ॥ ८ ॥
तजि कषाय मनकी चल चाल, ध्यावो अपना रूप रसाल ।
झरैं करम बन्धन दुखदान, बहुरि प्रकाशै केवलज्ञान ॥ ९ ॥
तेरौ जनम हुवो नहीं जहाँ, ऐसा खेत्तर नाहीं कहाँ ।
याही जनम भूमिका रचो, चलो निकसि तौ विधितैं बचो ॥१०॥
सब व्यवहार क्रियाका ज्ञान, भयो अनन्ती वार प्रधान ।
निपट कठिन अपनी पहिचान, ताकौं पावत होत कल्यान ॥११॥
धर्म स्वभाव आप सरधान, धर्म शील न न्हौन न दान ।
'बुधजन' गुरुकी सीख विचार, गहो धरम आपन निर्धार ॥१२॥

—— ——

दूसरी ढाल

नरेन्द्र छन्द[२] (जोगी रासा)

सुन रे जीव कहत हूँ तोकों, तेरे हितके काजै,
ह्वै निश्चल मन जब तूं धारै, तब कछु इकतो लाजै ।
जो दुखतैं थावर तन पायो, वरन सकूँ सो नाहीं ।
अठारैं बार मुवो अरु जीयो, एक सांसके मांही ॥ १ ॥
काल अनन्तान्त रहयो यों, पुनि विकलत्रय हूवो ।
बहुरि असैनी निपट अज्ञानी, छिन छिन जीयो मूवो ॥
ऐसैं जनम गयो कर्मनिवश, तेरा जोर न चाल्यो ।
पुण्यउदय सैनी पशु हूवो, तब हू ज्ञान न भाल्यो ॥ २ ।
जबर मिल्यौ तिन तोहि सतायौ निबल मिल्यौ तैं खायौ ।
मात त्रिया सम भोगी पापी, तातैं नर्क सिधायौ ॥
कोटिक वीछू काटत जैसें, असी भूमि जहाँ है ।
रूधिर-राधि-परवाह वहत है, दुर्गंधि निपट जहाँ है ॥ ३ ॥
घाव करत असिपत्र अंगमें, शीत उष्णतन गालैं ।
कोई काटैं करवत कर गहि, केई पावक जालैं ॥
यथायोग्य सागर थिति भुगतैं, दुखको अन्त न आवै ।
कर्म विपाक ऐसा ही होगो, मानुष गति तब पावै ॥ ४ ॥

२. इस छंद में २८ मात्रा होती हैं ।

मात उदरमें रहे गैंद ह्वै, निकसत ही बिललावै ।
डांवा दांत गला विस्फोटक, डांकनितैं बचि जावै ।।
तौ यौवन में भामिन के संग, निशदिन भोग रचावै ।
अन्धा ह्वै धंधा दिन खोवै, बूढ़ा नाड़ि हलावै ।। ५ ।।
जम पकड़ै तब जोर न चालै, सेन ही सेन बतावै ।
मन्द कषाय होय तो भाई, भवनत्रिक पद पावै ।।
पर की सम्पति लखि अति झूरै, कै रतिकाल गमावै ।
आयु अन्त माला मुरझावै, तब लखि लखि पछतावै ।। ६ ।।
तहँ तैं चयकर थावर होवै, रूलता काल अनन्ता ।
या विधि पंच परिवर्तन पूरत दुखको नाहीं अनन्ता ।।
काललब्धि बिन गुरु कृपातैं, आप आपको जानैं ।
तबही 'बुधजन' भवदधितिरकैं पहुँचि जाय निर्वाणैं ।। ७ ।।

तीसरी ढाल

(पद्धरी[1] छन्द)

या विधि भववनके मांहि जीव, वश मोहगहल सोता सदीव ।
उपदेश तथा सहजै प्रबोध, तब जागै रण ज्यों उठत जोध ।।१।।

---

१. इस छन्द के प्रत्येक पद में १६ मात्रा होती हैं ।

तब चिन्तत अपनें मांहि आप, मैं चिदानन्द नहिं पुण्य पाप ।
मेरे नाहीं हैं राग भाव, ये तौ विधिवश उपजै विभाव ॥२॥
हूँ नित्य निरंजन शिव समान, ज्ञानावरणी आच्छाद ज्ञान ।
निश्चय सुध इक व्यवहार भेव, गुण गुणी अंग अंगी अछेव ॥३॥
मानुष सुर नारक पशु पर्याय, शिशु युवा वृद्ध बहु रूप काय ।
धनवान दरिद्री दास राव, यह तौ विडम्ब न मुझ स्वभाव ॥४॥
रस फरस गंध वरणादिनाम, मेरे नाहीं मैं ज्ञान धाम ।
मैं एक रूप नहिं होत और, मुझसे प्रतिबिम्बित सकल ठौर ॥५॥
तन पुलकित उर हर्षित सदीव, ज्यों भई रंक ग्रह निधि अतीव ।
जब प्रबल अप्रत्याख्यान थाय, तब चितपरिणति ऐसी उपाय ॥६॥
सो सुनो भव्य चित धार कान, वर्णत हूँ ताको विधिविधान ।
सब करैं काज घर मांहि वास, ज्यों भिन्न कमल घरमें निवास ॥७॥
ज्यों सती अंग मांही शृंगारि, करैं प्यार ज्यों नगर नारि ।
ज्यों धाय चुखावति अन्यबाल, त्यों भोग करत नाहीं खुशाल ॥८॥
जो उदय मोह चारित्र भाव, नहिं होत रंचहू त्याग ताव ।
तहां करैं मन्द खोटे कषाय, घर में उदास हो अथिर थाय ॥९॥
सबकी रक्षा युतन्याय नीति, जिन शासन गुरू की दृढ़ प्रतीति ।
बहु रुलै अर्द्ध पुद्गल प्रमान, अंतर मुहूर्त ले परम थान ॥१०॥
वे धन्य जीव धनि भाग सोय, जिनकै ऐसी सुप्रतीति होय ।
तिनकी महिमा है स्वर्ग लोय, 'बुधजन भाषैं मोतैं न होय ॥११॥

चौथी ढाल

(सोरठा)[1]

उगो आतम सूर, दूर गयो मिथ्यात्व-तम !
अब प्रगटै गुण भूर, तिनमें कछुइक कहत हों ॥ १ ॥
शंका मनमें नाहिं, तत्त्वारथ सरधानमें ।
निरवांछा चित मांहि, परमारथमें रत रहैं ॥ २ ॥
नैंक न करत गिलान, बाह्य मलिन मुनितन लखें ।
नाहीं होत अजान, तत्त्व कुतत्त्व विचारमें ॥ ३ ॥
उरमें दया विशेष, गुन प्रगटै औगुन ढकैं ।
शिथिल धर्म में देख, जैसे तैसे थिर करै ॥ ४ ॥
साधर्मी पहिचान, करैं प्रीति गोवच्छ सम ।
महिमा होय महान, धर्म कार्य ऐसे करैं ॥ ५ ॥
मद नहीं जो नृपतात, मद नहीं भूपति मामको ।
मद नहीं विभव लहात, मद नहीं सुन्दररूपको ॥ ६ ॥
मद नहीं होय प्रधान, मद नहीं तनमें जोरका ।
मद नहीं जो विद्वान, मद नहीं सम्पति कोषका ॥ ७ ॥

१. इस छन्दके प्रथम व तृतीय पद में ग्यारह ग्यारह मात्राएँ होती हैं दूसरे तथा चौथे पद में तेरह तेरह मात्राएँ होती हैं।

हूजे आत्मज्ञान, तज रागादि विभाव पर ।
ताको ह्वै क्यों मान, जात्यादिक वसु अथिरको ॥ ८ ॥
वन्दत हैं अरिहंत, जिन मुनि जिनसिद्धांतको ।
नवैं न देख महन्त, कुगुरू कुदेव कुधर्मको ॥ ९ ॥
कुत्सित आगम-देव, कुत्सित गुरु पुन सेवका ।
परशंसा षट् भेव, करैं न सम्यक्वान ह्वै ॥ १० ॥
प्रगटो ऐसा भाव, किया अभाव मिथ्यात्वका ।
वन्दत ताकै पांव, 'बुधजन' मन-वच-कायसे ॥ ११ ॥

पांचवीं ढाल

(मनंहरण[1] छन्द)

तिर्यंच मनुष दोऊ गति में, व्रत धारक श्रद्धा चितमें ।
सो अगलित नीर न पीवैं, निशि भोजन तजत सदीवैं ॥ १॥
मुख वस्तु अभक्ष्य न लावैं, जिन भक्ति त्रिकाल रचावैं ।
मन-वच-तन-कपट निवारैं, कृत-कारित-मोद सम्हारैं ॥ २ ॥
जैसी उपशमित कषाया, तैसा तिन त्याग बनाया ।
कोउ सात विसनकों त्यागैं, कोई अणुव्रत में मन पागैं ॥ ३ ॥

---

१ इस छन्दके प्रत्येक पदमें १४ मात्राएँ होती हैं ।

त्रसजीव कभी नहिं मारैं, विरथा थावर न संहारैं।
पर-हित-विन झूठ न बोलैं, मुख साँच विना नहिं खोलैं ॥४॥
जल-मृतिका विन धन सबहू, विन दिये न लेवैं कबहू।
ब्याही वनिता विन नारी, लघु बहिन बड़ी महतारी ॥ ५ ॥
तृष्णाका जोर संकोचैं, ज्यादा परिग्रहको मोचैं।
दिशकी मर्यादा लावैं, बाहर नहिं पांव हिलावैं ॥ ६ ॥
ताहू में पुन सर-सरिता, नित राखत अघतैं डरता।
सब अनरथदंड न करि हैं, छिन छिन जिनधर्म सुमरि हैं ॥७॥
द्रव्य थान काल शुध भावै, समता सामायिक ध्यावै।
पोसह एकाकी हो है, निष्किंचिन मुनि ज्यों सोहै ॥ ८ ॥
परिग्रह परिमाण विचारैं, नित नेम भोगका धारैं।
मुनि आवन विरिया जावैं, तब जोग असन मुख लावैं ॥ ९ ॥
यों उत्तम क्रिरिया करता, नित रहै पापतैं डरता।
जब निकट मृत्यु निज जानैं, तब ही सब ममता भानैं ॥ १०॥
ऐसे पुरुषोत्तम केरा, 'बुधजन' चरनन का चेरा।
वे निश्चय सुरपद पावैं, थोरै दिनमें शिव जावैं ॥ ११ ॥

छठी ढाल

(रोला छन्द)[1]

अथिर ध्याय पर्याय भोगतैं होय उदासी,
नित्य निरंजन ज्योति आत्मा घटमें भासी ।
सुत दारादि बुलाय सबनतैं मोह निवारा,
त्याग शहर धन धाम वाम वन बीच विचारा ॥ १ ॥
भूषण वसन उतार नगन ह्वै आतम चीन्हा,
गुरु ढिंग दिक्षा धारि शीश कच लौंच सु कीना ।
त्रस थावरका घात त्याग मन वच तन लीना,
झूठ वचन परिहार गहैं नहिं जल विन दीना ॥ २ ॥
चेतन-जड़-तिय-भोग तज्यौ भव-भव दुखकारा,
अहि कंचुकि ज्यों जान चित्तनैं परिग्रह डारा ।
गुपति पलनके काज कपट मन-वच-तन नाहीं,
पाचों समिति सम्हारि परीषह सहि हैं आहीं ॥ ३ ॥
छोर सकल जग-जाल आप करि आप आप आपमें,
अपनें हितकौं आप करो ह्वै शुद्ध जापमें ।
ऐसी निश्चल काय ध्यानमें मुनि जन केरी,
मानों पाथर रची किधौं चित्राम उकेरी ॥ ४ ॥

---

१ इस छन्दका प्रत्येक पद २४ मात्राका होता है ।

चारि घातिया घाति ज्ञानमें लोक निहारा,
दे जिन मत उपदेश भव्योंको दुखतैं टारा ।
बहुरि अघातिया तोरि समयमें शिव पद पाया,
अलख अखंडित ज्योति शुद्ध चेतन ठहराया ॥ ५ ॥
काल अनन्तानन्त जैसेके तैसे रहिहैं ।
अविनाशी अविकार अचल अनुपम सुख लहिहैं ।
ऐसी भावना भाय ऐसे कारज करिहैं,
ते ऐसें ही होंय दुष्ट कर्मनिकों हरिहैं ॥ ६ ॥
जिनके उर विश्वास वचन जिनशासन नाहीं,
ते भोगातुर होंय सहैं दुख नरकों माहीं ।
सुख-दुख पूर्व विपाक अरे मत कल्पे[२] जीया,
कठिन कठिनतैं मीत जनम मानुष तैं लीया ॥ ७ ॥
सो विरथा मत खोय जोय आपा पर भाई,
गई न मिलती फेरि उदधिमें डूबी राई ।
भला नरकको वास सहित जो समकित पाता,

२ मुद्रित प्रतिमें 'कम्पे' पाठ दिया है।

बुरे बनें जे देव नृपति मिथ्या मद माता ॥ ८ ॥
नहीं खचैं धन होय नहीं काहू सैं लरना,
नहीं दीनता होय नहीं घरको परिहरना।
समकित सहज स्वभाव आपका अनुभव करना,
या विन जप तप वृथा कष्टके माहीं परना ॥ ९ ॥
कोटि बातकी बात अरे बुधजन डर धरना,
मन वच तन सुध होय गहो जिनमतका सरना।
ठारे से पंचास अधिक नव संवत जानों।
तीज सुकल बैशाख ढाल षट शुभ उपजानों ॥ १० ॥

॥ समाप्त ॥

कविवर गिरधरशर्मा-कृत

हिन्दी भक्तामरस्तोत्र

(१)

हैं भक्त-देव-नत-मौलि मणिप्रभाके,
उद्योत-कारक विनाशक पापके हैं।
आधार जो भव-पयोधि पड़े जनोंके,
अच्छी तरा नम उन्हीं प्रभुके पदोंको ॥

(२)

श्री आदिनाथ विभुकी स्तुति मैं करूंगा,
की देवलोकपतिने स्तुति है जिन्होंकी।
अत्यन्त सुन्दर जगत्त्रय-चित्तहारी,
सुस्तोत्रसे सकल शास्त्र रहस्य पाके ॥

(३)

हूँ बुद्धिहीन फिर भी बुध-पूज्य-पाद,
तैयार हूँ स्तवनको निर्लज्ज होके।

है और कौन जगमें तज बालको जो,
लेना चहै सलिल संस्थित चन्द्र-बिम्ब ॥

(४)

होवे बृहस्पति-समान सुबुद्धि सो भी,
है कौन जो गिन सके तव सद्गुणों को ।
कल्पान्त वायु-वश सिन्धु अलंघ्य जो है,
है कौन जो तिरसके उसको भुजासे ॥

(५)

हूँ शक्ति-हीन फिर भी करने लगा हूँ,
तेरी प्रभो ! स्तुति हुआ वश भक्तिके मैं ।
क्या मोहके वश हुआ शिशुको बचाने,
है सामना न करता मृग सिंहका भी ॥

(६)

हूँ अल्पबुद्धि बुध-मानवकी हँसीका,
हूँ पात्र भक्ति तव है मुझको बुलाती ।
जो बोलता मधुर कोकिल है मधूमें,
है हेतु आम्रकलिका वश एक उसमें ॥

(७)

तेरी किये स्तुति विभो ! बहुजन्मके भी,
होते विनाश सब पाप मनुष्यके हैं।
भौंरे समान अति श्यामल ज्यों अन्धेरा,
होता विनाश रविके करसे निशाका ॥

(८)

यों मान की स्तुति शुरू मुझ अल्पधीने,
तेरे प्रभाववश नाथ ! वही हरेगी ।
सल्लोकके हृदयको जलबिन्दु भी तो,
मोती समान नलनी दलपै सुहावे ॥

(९)

निर्दोष दूर सब ही स्तुतिका बनाना,
तेरी कथा तक हरे जगके अघोंको ।
हो दूर सूर्य करती उसकी प्रभा ही,
अच्छे प्रफुल्लित सरोजनको सरोंमें ॥

(१०)

आश्चर्य क्या भुवनरत्न ! भले गुणों से,
तेरी किये स्तुति बनें तुझसा मनुष्य ।

है काम क्या जगतमें उन मालिकोंका,
जो आत्म-तुल्य न करें निज आश्रितों को ॥

(११)

अत्यन्त सुन्दर विभो ! तुझको विलोक,
अन्यत्र आँख लगती नहि मानवोंकी ।
क्षीराब्धिका मधुर सुन्दर वारि पीके,
पीना चहे जलधिका जल कौन खारा ॥

(१२)

जो शान्तिके सुपरमाणु प्रभो ! तनू में,
तेरे लगे जगतमें उतने वही थे ।
सौन्दर्य-सार ! जगदीश्वर ! चित्तहर्ता,
तेरे समान इससे नहि रूप कोई ॥

(१३)

तेरा कहां मुख सुरादिक-नेत्ररम्य,
सर्वोपमान-विजयी जगदीश ! नाथ ।
त्यों ही कलंकित कहाँ वह चन्द्र-बिम्ब,
जो हो पड़े दिवसमें द्युति-हीन फीका ॥

(१४)

अत्यन्त सुन्दर कलानिधिकी कलासे,
तेरे मनोज्ञ गुण नाथ ! फिरे जगों में ।
है आसरा त्रिजगदीश्वरका जिन्होंको,
रोके उन्हें त्रिजगमें फिरते न कोई ॥

(१५)

देवाङ्गना हरसकीं मनको न तेरे,
आश्चर्य नाथ ! इसमें कुछभी नहीं है ।
कल्पान्तके पवनसे उड़ते पहाड़,
पै मन्दराद्रि हिलता तक है कभी क्या ॥

(१६)

बाती नहीं, नहिं धुआं, नहिं तैलपूर,
भारी हवा तक नहीं सकती बुझा है ।
सारे त्रिलोकविच है करता उजेला,
उत्कृष्ट दीपक विभो ! द्युतिकारि तू है ॥

(१७)

तू हो न अस्त, तुझको गहता न राहू,
पाते प्रकाश तुझसे जग एकसाथ ।

तेरा प्रभाव रुकता नहिं बादलोंसे,
तू सूर्यसे अधिक है महिमा-निधान ॥

(१८)

मोहान्धकार हरता, रहता उगा ही,
जाता न राहु—मुखमें, न छुपे घनोंसे ।
अच्छे प्रकाशित करे जगको सुहावे,
अत्यन्त कान्तिधर नाथ, मुखेन्दु तेरा ॥

(१९)

क्या भानुसे दिवसमें निशिमें शशी से,
तेरे प्रभो ! सुमुखसे तम नाश होते ।
अच्छो तरा पक गया जग बीच धान,
है काम क्या जलभरे इन बादलोंसे ॥

(२०)

जो ज्ञान निर्मल विभो ! तुझमें सुहाता,
भाता नहीं वह कभी पर देवतामें ।
होती मनोहर छटा मणिमध्य जो है,
सो काचमें नहिं पड़े रवि-बिम्बके भी ॥

(२१)

देखे भले अयि विभो ! पर देवता ही,
देखे जिन्हें हृदय आ तुझमें रमें ये।
तेरे विलोकन किये फल क्या प्रभो ! जो,
कोई रमे न मनमें परजन्ममें भी ॥

(२२)

माएँ अनेक जनतीं जगमें सुतोंको,
हैं किन्तु वे न तुझसे सुतकी प्रसूता।
सारी दिशा धर रहीं रविका उजेला,
पै एक पूरव दिशा रविको उगाती ॥

(२३)

योगी तुझे परमपूरुष हैं बताते,
आदित्यवर्ण मलहीन तमिस्रहारी।
पाके तुझे जय करें सब मृत्युको भी,
है और ईश्वर नहीं वर मोक्षमार्ग ॥

(२४)

योगीश, अव्यय, अचिन्त्य, अनङ्गकेतु,
ब्रह्मा असंख्य परमेश्वर एक नाना।

ज्ञानस्वरूप विभु निर्मल योगवेत्ता,
त्यों आद्य सन्त तुझको कहते अनन्त ॥

(२५)

तू बुद्ध है विबुध-पूजित बुद्धिवाला,
कल्याण-कर्तृवर शंकर भी तुही है।
तू मोक्ष-मार्ग-विधि-कारक है विधाता,
हैं व्यक्त नाथ पुरुषोत्तम भी तुही है ॥

(२६)

त्रैलोक्य-आर्ति-हर नाथ ! तुझे नमूं मैं,
हे भूमिके विमलरत्न तुझे नमूं मैं।
हे ईश सर्वजगके तुझको नमूं मैं,
मेरे भवोदधिविनाशि तुझे नमूं मैं ॥

(२७)

आश्चर्य क्या गुण सभी तुझमें समाए,
अन्यत्र क्योंकि न मिली उनको जगा ही।
देखा न नाथ ! मुखभी तब स्वप्नमें भी,
पा आसरा जगतका सब दोषने तो ॥

(२८)

नीचे अशोक तरुके तन है सुहाता,
तेरा विभो ! विमल रूप प्रकाशकर्त्ता ।
फैली हुई किरणका तमका विनाशी,
मानों समीप घनके रवि-बिम्ब ही है ॥

(२९)

सिंहासन स्फटिक रत्न-जड़ा उसीमें,
भाता विभो ! कनक-कान्त शरीर तेरा ।
ज्यों रत्नपूर्ण उदयाचल-शीश पै जा,
फैला स्वकीय किरणें रवि-बिम्ब सोहे ॥

(३०)

तेरा सुवर्णमय देह विभो ! सुहाता,
है श्वेत कुन्द-सम चामरके ढुरेसे ।
सोहे सुमेरुगिरि, कांचन कांति धारी,
ज्यों चन्द्रकान्ति धर निर्भरके बहेसे ॥

(३१)

मोती मनोहर लगें जिनमें सुहाते,
नीके हिमांशुसम सूरजतापहारी ।

हैं तीन छत्र शिरपै अतिरम्य तेरे,
जो तीन-लोक-परमेश्वरता बताते ॥

(३२)

गंभीर नाद भरता दश ही दिशामें,
सत्संगकी त्रिजगको महिमा बताता ।
धर्मेशकी कर रहा जय-घोषणा है,
आकाश बीच बजता यशका नगारा ॥

(३३)

गन्धोद-बिन्दु-युत मारुतकी गिराई,
मन्दारकादि-तरुकी कुसुमावलीकी ।
होता मनोरम महा सुरलोकसे है,
वर्षा मनों तव लसें वचनावली है ॥

(३४)

त्रैलोक्यकी सर्वप्रभामय वस्तु जीती,
भामण्डल प्रबल है तव नाथ ऐसा ।
नाना प्रचण्ड रवि-तुल्य सुदीप्तिधारी,
है जीतता शशी सुशोभित रातको भी ॥

(३५)

है स्वर्ग-मोक्ष-पथ-दर्शनकी सुनेता,
सद्धर्मके कथनमें पटु है जगोंके ।
दिव्यध्वनि प्रकट अर्थ मयी प्रभो ! है,
तेरी लहे सकल मानव बोध जिससे ॥

(३६)

फूले हुए कनकके नव पद्मके से,
शोभायमान नखकी किरण-प्रभा से ।
तूने जहाँ पग धरे अपने विभो ! हैं,
नीके वहाँ विबुध पंकज कल्पते हैं ॥

(३७)

तेरी विभूति इस भांति विभो ! हुई जो,
सो धर्मके कथनमें न हुई किसीकी ।
होते प्रकाशित, परन्तु तमिस्रहर्ता,
होता न तेज रवि-तुल्य कहीं ग्रहोंका ॥

(३८)

दोनों कपोल झरते मदसे सनें हैं,
गुंजार खूब करती मधुपावली है ।

ऐसा प्रमत्त गज होकर क्रुद्ध आवे,
पावें न किन्तु भय आश्रित लोक तेरे ॥

(३९)

नाना करीन्द्रदल-कुम्भ विदारके की,
पृथ्वी सुरम्मय जिसने गजमोतियोंसे।
ऐसा मृगेन्द्र तक चोट करे न उस पै,
तेरे पदाद्रि जिसका शुभ आसरा है ॥

(४०)

झालें उठें, चहुँ उड़ें जलते अँगारे,
दावाग्नि जो प्रलय-वन्हि-समान भासे।
संसार भस्म करनें हित पास आवे,
त्वत्कीर्ति-गान शुभ-वारि उसे शमावे ॥

(४१)

रक्ताक्ष क्रुद्ध पिककंठ-समान काला,
फुंकार सर्प फनको कर उच्च धावे।
निश्शंक हो जन उसे पगसे उलांघे,
त्वन्नाम-नागदमनी जिसके हिये हो ॥

(४२)

घोड़े जहाँ हिनहिनें गरजें गजाली,
ऐसे प्रबल सैन्यधराधिपोंके ।
जाते सभी बिखर हैं तव नाम गाये,
ज्यों अन्धकार, उगते रविके करोंसे ॥

(४३)

बर्छे लगें बह रहे गज रक्तके हैं,
तालाबसे विकल हैं तरणार्थ योद्धा ।
जीते न जाँय रिपु संगर बीच ऐसे,
तेरे प्रभो! चरण सेवक जीतते हैं ॥

(४४)

हैं काल-नृत्य करते मकरान्दि जन्तु,
त्यों बाडवाग्नि अति भीषण सिन्धुमें है ।
तूफानमें पड़ गये जिनके जहाज़,
वे भी प्रभो! स्मरणसे तव पार होते ॥

(४५)

अत्यन्त पीड़ित जलोदर-भारसे हैं,
है दुर्दशा तज चुके निज जीविताशा ।

वे भी लगा तव पदाब्ज-रज-सुधाको,
होते प्रभो ! मदन-तुल्य-स्वरूप देही ॥

(४६)

सारा शरीर जकड़ा दृढ़ सांकलोंसे,
बेड़ी पड़ें छिल गईं जिनकी भुजाएँ ।
त्वन्नाम-मंत्र जपते जपते उन्हींके,
जल्दी स्वयं झड़ पड़ें सब बन्ध-बेड़ी ॥

(४७)

जो बुद्धिमान इस सुस्तवको पढ़े है,
होकर बिभीत उनसे भय भाग जाता ।
दावाग्नि-सिन्धु-अहिका रण-रोगका त्यों,
पंचास्य-मत्तगजका, सब बन्धनोंका ॥

(४८)

तेरे मनोज्ञ गुणसे स्तवमालिका ये,
गूंथी प्रभो ! विविध वर्ण सुपुष्पवाली ।
मैंने, सभक्तिजन कण्ठ धरे इसे जो,
सो मानतुङ्ग-सम प्राप्त करे सुलक्ष्मी ॥



मेरी भावना

(श्रीजुगलकिशोर मुख्तार)

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते, सब जग जान लिया,
सब जीवोंको मोक्षमार्गका निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर-जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भावसे प्रेरित हो यह चित्त उसीमें लीन रहो ॥ १ ॥
विषयोंकी आशा नहिं जिनके, साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-परके हित-साधनमें जो निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगतके दुख-समूहको हरते हैं ॥ २ ॥
रहे सदा सत्संग उन्हींका ध्यान उन्हींका नित्य रहे,
उन ही जैसी चर्यामें यह चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊँ किसी जीवको झूठ कभी नहिं कहा करूँ,
परधन-वनिता[1] पर न लुभाऊँ, संतोषामृत पिया करूँ ॥३॥
अहंकारका भाव न रक्खूँ, नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरोंकी बढ़तीको कभी न ईर्षा-भाव धरूँ।

---

१ स्त्रियाँ 'वनिता' के स्थानपर 'भर्त्ता' पढ़ें।

रहे भावना ऐसी मेरी सरल-सत्य-व्यवहार करूँ,
बने जहां तक इस जीवनमें औरोंका उपकार करूँ ॥ ४ ॥
मैत्री-भाव जगतमें मेरा सब जीवोंसे नित्य रहे,
दीन-दुखी जीवों पर मेरे उरसे करुणा-स्रोत बहे।
दुर्जन-क्रूर-कुमार्गरतोंपर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रक्खूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे। ५ ॥
गुणीजनोंको देख हृदयमें मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहां तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहणका भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे ॥ ६ ॥
कोई बुरा कहो या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय-मार्गसे मेरा कभी न पद डिगने पावे ॥ ७ ॥
होकर सुखमें मग्न न फूले दुखमें कभी न घबरावे,
पर्वत-नदी-श्मशान-भयानक-अटवीसे नहि भय खावे।
रहे अडोल-अकम्प निरन्तर यह मन, दृढ़तर बन जावे,
इष्टवियोग-अनिष्टयोगमें सहनशीलता दिखलावे ॥ ८ ॥

सुखी रहें सब जीव जगतके कोई कभी न घबरावे,
बैर–पाप–अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।
घर घर चर्चा रहे धर्मकी दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना मनुज-जन्म-फल सब पावें ॥९॥
ईति भीति व्यापे नहीं जगमें वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी न्याय प्रजाका किया करे।
रोग-मरी-दुर्भिक्ष न फैले प्रजा शान्तिसे जिया करे,
परम-अहिंसा-धर्म जगतमें फैल सर्वहित किया करे ॥ १० ॥
फैले प्रेम परस्पर जगमें मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहि कोई मुखसे कहा करे।
बनकर सब 'युग-वीर' हृदयसे देशोन्नति-रत रहा करें,
वस्तु-स्वरूप विचार खुशीसे सब दुःख-संकट सहा करें ॥११॥



वीरसेवा मन्दिरके अन्य प्रकाशन

१. अनित्य-भावना—आ० पद्मनन्दिकृत भावपूर्ण और हृदयग्राही महत्वकी कृति, साहित्य-तपस्वी पण्डित जुगलकिशोर मुख्तारके हिन्दी-पद्यानुवाद और भावार्थ सहित। मूल्य चार आना।

२. आचार्य प्रभाचन्द्रका तत्त्वार्थसूत्र—सरलसंक्षिप्त नया सूत्र-ग्रन्थ पं० जुगलकिशोर मुख्तारकी सुबोध हिन्दी-व्याख्या सहित। मूल्य चार आना।

३. न्याय-दीपिका—(महत्वका सर्वप्रिय सस्करण)—अभिनव धर्मभूषण विरचित न्याय-विषयकी सुबोध प्राथमिक रचना। न्यायाचार्य प० दरबारीलाल कोठिया द्वारा सम्पादित, हिन्दी-अनुवाद, विस्तृत (१०१ पृष्ठकी) प्रस्तावना, प्राक्कथन, परिशिष्टादिसे विशिष्ट, ४०० पृष्ठप्रमाण, लागत मूल्य पाँच रुपया। विद्वानों, छात्रों और स्वाध्याय-प्रेमियोंने इस सस्करणको बहुत पसन्द किया है। इसकी थोड़ी ही प्रतियाँ शेष रही हैं। शीघ्रता करें। फिर न मिलने पर पछताना पड़ेगा।

४. सत्साधुस्मरणमङ्गलपाठ—अभूतपूर्व सुन्दर और विशिष्ट सङ्कलन, सङ्कलयिता, पंडित जुगलकिशोर मुख्तार। भगवान महावीरसे लेकर जिनसेनाचार्य पर्यन्तके २१ महान जैनाचार्योंके प्रभावक गुण-स्मरणोंसे युक्त। मूल्य आठ आना।

५. अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पञ्चाध्यायी तथा लाटीसंहिता आदि ग्रन्थोंके रचयिता पंडित राजमल्ल विरचित अपूर्व आध्यात्मक कृति, न्यायाचार्य पंडित दरबारीलाल कोठिया और पं० परमानन्द शास्त्रीके सरल हिन्दी-अ[illegible]दादिसहित तथा मुख्तार पंडित जुगल-किशोरद्वारा लिखित विस्[illegible] प्रस्तावनासे विशिष्ट। मूल्य डेढ़ रुपया।